मानसरोवर प्रकाशन
गया

मूल्य—२॥)

साहित्य और साहित्यकार

दोनों के समान स्नेही

भाई श्री कामता प्रसाद सिंह 'काम'

को

जो केवल बुलबुल की तान पर ही कान

नहीं देते, उसके नीड़-निर्माण का

भी ध्यान रखते हैं।

—हंसकुमार

केवल एक बात

पुस्तक की बाबत कोई बात नहीं कहनी, अपनी वह आप कह लेगी। कहनी है केवल एक बात, वह उससे परे की, एकांत अपनी है। पुस्तक को आपके हाथों और पहले आना चाहिये था—अब आ पा रही है। हकीकत में मेरी लाचारी ने इसे विचारी बनाया—यों यह तैयार थी। खैर, अब सही। अगर इन लेखों में छुई गयी समस्यायें, विचारों के इन आईनों में कुछ रूप और समाधान का प्रकाश पा सकी हों, तो अपने श्रम को सार्थकता का मुनाफा होगा, कर्त्तव्य के नाते तो इतना करना ही था। कई स्थानों में अंगांगी होने के नाते विवशतावश एक बात को दुबारे छू देना पड़ा है—वह पुनरावृत्ति न मानी जाय। बस।

लेखक

सूची

साहित्यायन

युग का और युग-युग का

जिसमें जीते-जागते युग के दर्शन हों, जो युग की धड़कन से अनुप्राणित हो, वही साहित्य वास्तव में साहित्य है। आज बहुत-से साहित्य-विचारक ऐसा ही कहते हैं। उनके विचार से युग का साहित्य ही सब-कुछ है, साहित्य को युगधर्मी होना ही चाहिए। युग का यह दावा इतना प्रबल और एकांगी हो उठा है कि ऐसे लोगों को साहित्य के साथ स्थायी, शाश्वत, नित्य, चिरंतन, चिरकालीन आदि शब्द भी सह्य नहीं।

सच पूछिए तो ये उपर्युक्त शब्द तो इस रूप में हमें भी नहीं रुचते, गोकि हम साहित्य को युग का नहीं, युग-युग का मानते हैं। मसलन 'गाय' शब्द को लीजिए। इस चौपाए जन्तु से हम इतने परिचित हैं कि इसकी व्याख्या की हमें अपेक्षा नहीं होती। गाय शब्द में ही उस जीव के रूप और गुणगत स्वरूप का परिचय हमें मिल जाता है। इतने पर भी जब कोई यह कहता है कि गाय के चार टाँग, दो सींग, एक पूँछ होती है, तो समय के अनावश्यक व्यय एवं जानकारी के निरर्थक विज्ञापन से अरुचि हो आती है। आत्मा कहने से ही हमें उसकी रूपहीन व्यापक अमरता का बोध हो जाता है। आकाश कहने से ही हम शब्दमय शून्यता समझ लेते हैं। साहित्य की नित्यता का परिचय स्वयं उस शब्द से ही जड़ित है। चिरंतनता सच्चे साहित्य का गुण है, शाश्वतता श्रेष्ठ साहित्य का धर्म है। इसलिए सब समय उसकी व्याख्या

अनपेक्षित ही नहीं, अनुचित है। कछुए का आश्रय उसके जीवन से ही सम्बद्ध होता है, साहित्य की आयु अपराजेयता में काल का सहधर्मी होती है। उसकी बार-बार याद दिलाना रसभंग करना है—वैसा ही रसभंग, जैसा कि आदर्श पुरुषोत्तम राम से प्रत्येक असाधारण कार्य साधित कराके बाबा तुलसीदास उनके अवतारी पुरुष होने की याद दिलाकर करते रहे हैं!

युग का साहित्य होता ही नहीं, यह हम नहीं कहते। युग का साहित्य होता है; लेकिन जो साहित्य युग-युग का होता है, हक़ीकत में वही साहित्य पदवाच्य है। साहित्य का मूल्यांकन करते हुए मनस्वी रस्किन ने उसकी दो श्रेणियाँ की हैं : एक सामयिक साहित्य और दूसरा सर्वजनीन साहित्य। सामयिक साहित्य से तत्कालीन प्रयोजन की सिद्धि होती है। युग के समसामयिक आदर्श और उसकी तात्कालिक आवश्यकताएँ टिकाऊ नहीं होतीं। युग स्वयं गतिशील है। उसके अंग भी इसीलिए पंगु नहीं होते। फलस्वरूप युग का प्रचारधर्मी साहित्य ज्वार के समान वर्तमान को प्लावित तो कर देता है; किन्तु भाटे के साथ वह विलुप्त भी हो जाता है। इसलिए युग के साहित्य की उपयोगिता तो होती है, उसका प्रयोजन भी होता है ; किन्तु उसमें स्थायित्व नहीं होता। सूरज डूबता है, तो मिट्टी के दिए का अपना स्थान और महत्व नहीं होता, यह कौन कह सकता है। परन्तु जो सूरज है, वह दिया नहीं। युग बदलता है, युग के अवसान के साथ उसके आदर्श बदल जाते हैं। ऐसी दशा में उन्हीं के कंधों पर टिका हुआ साहित्य, उन्हीं का आश्रित साहित्य भी लुप्त हो जाता है। उसकी अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं होती कि युग के बाहर वह अपने

अस्तित्व को कायम रख सके। प्रचारधर्मी साहित्य युग और जीवन की स्थूल आवश्यकताओं में ही अपनी क्षमता को क्षय करता है। ये ज्ञान के विषय हैं। ज्ञान के विषयों की त्रुटि यह होती है कि आयत्त हो जाने के बाद वे हमारे लिए कोई आकर्षण नहीं रखते। स्थूल जगत् और प्रत्यक्ष जीवन ज्ञानगत होते ही नीरस हो जाते हैं। हमारी इन्द्रिय या मन की सत्ता से ऊपर उठकर विज्ञानमय और आनन्दमय सत्ता में भावानुभूति की लहरें उठा नहीं सकते। इसीलिए काल के प्रवाह के साथ बह जाते हैं। सामयिक साहित्य अस्थिरधर्मी होता है।

सर्वजनीन साहित्य में ऐसा नहीं होता। जिसे हम युग-युग का साहित्य कहते हैं, वह युग का भी होता है, युग के बाद के युगों का भी होता है। साहित्यकार जिस युग में जीता है, उससे वह प्रभावित न हो, यह ग़ैरमुमकिन है। डूबनेवाली नाव के जिस कोने पर भी यात्री बैठा हो, आसन्न मृत्यु की विभीषिका उसे आन्दोलित करती है। पेड़ सैकड़ों जड़ों की जीभ से जिस मिट्टी का रस पीकर जीता है, उसके फलों में उसका गुण आता है। साहित्य-स्रष्टा युग का ऋणी होता है, युगकी स्थिति, उसके परिणाम, उसका वातावरण उसके हृदय-सागर में प्रभाव की लहरें उठाते हैं। किन्तु सच्चा साहित्यकार तो केवल युग-द्रष्टा ही नहीं होता, युग-स्रष्टा भी होता है। वह युग से केवल ऋण लेनेवाला कर्ज़दार नहीं, युग को दान देनेवाला महाजन भी है। वह युग को ग्रहण करता है और उसे युग-युग का बना देता है। ऐसे साहित्यकार की रचना में एक ओर तो युग के लक्षण-समूहों का प्रकाश होता है, दूसरी विशेषता होती है युग के साथ चिरंतन मानव-धर्म का सन्निवेश। इसी सुदूरप्रसारी दृष्टि के कारण उसके

रचित साहित्य की परिसमाप्ति युग के संक्षिप्त आयुष्काल में नहीं होती। चूँकि शाश्वत मानव-हृदय के अपरिवर्त्तनीय भावों से उसका संबंध होता है, इसलिए हृदय-राज्य में अपनी विजय-पताका फहराते हुए वह साहित्य युग-युग का अभियात्री होता है। उसकी इस विजय-यात्रा में देश, काल, जाति या धर्म की अड़चनें नहीं खड़ी हो सकतीं। उसकी ज्योति चपला की क्षणिक प्रकाश-रेखा-सी नहीं होती, वह सुदूर भविष्यत् का स्थायी प्रकाश-स्तंभ होता है। रस्किन के समान जर्मन कवि गेटे ने भी स्थायी साहित्य की स्तुति की है। चमककर निमेषमें निष्प्रभ होनेवाली प्रकाश-रेखा को उसने निस्सार कहा है। जो युगातीत आलोक बिखेर सकती है, वही स्थायी कृति महत्वपूर्ण है।[1]

साहित्य भावोपजीवी होता है। हृदय-सरोवर में पंकज की तरह जन्म लेनेवाले भावों की मृत्यु नहीं होती, उसका सौरभ कभी म्लान नहीं होता। युग को महत्व देनेवाले लोग ज्ञानगत विषयों का आधार लेते हैं। उनका कारोबार हड्डी-पसली के विश्लेषण का होता है, जो नाशवान है। अपनी ज्ञान की परिधि में आदमी अपरिवर्तनशील नहीं है, भाव के राज्य में ही ऐसा संभव हो सकता है। ज्ञान की नित नयी रूप-रेखा उसके सामने आती है; पर भावों में मनुष्य वही है, वैसा ही है, एक-सा ही है। साहित्य मनुष्यता का दूसरा रूप है। भीष्म ने शर-शय्या पर युधिष्ठिर को महान् सत्य यह बताया था कि 'न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्'। इसीको कवि चण्डीदास ने दुहराया:

शुनह मानुष भाइ

१. व्हाट ग्लिटर्स इज़ फ़ॉर दि मोमेंट; दि जेनुविन इज़ फ़ॉर ऑल टाइम्स

सबार ऊपरे मानुष सत्य
ताहार ऊपरे नाइ !

सृष्टिकारिणी प्रत्येक प्रतिभा अन्य कुछ नहीं, विश्वमानवता का एक रूप है और हमारी समझ से सृष्ट साहित्य मानवता के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। साहित्य और जीवन का धर्म ही लगभग एक नहीं, काल-प्रवाह में दोनों एक नौका के यात्री हैं। पारस्परिक सहयोगिता से ही दोनों का अस्तित्व सुरक्षित है। जीवन साहित्य की अनुप्रेरणा है और साहित्य जीवन की। कई लोगों ने जीवन को साहित्य पर प्रतिफलित प्रतिबिंब की तरह देखना चाहा। बोले—साहित्य जीवन का दर्पण है। कई ने साहित्य को ही जीवन कहा। आलोचक मेथ्यु आर्नल्ड ने साहित्य को 'जीवन की आलोचना' कहा। इस उक्ति के संबंध में मतभेद भी बहुत है। किन्तु अपनी अन्य पंक्तियों में स्वयं उन्होंने उसकी अव्यर्थ पुष्टि की है। यथायथ जीवन का चित्र साहित्य नहीं है, केवल कल्पना-विलास भी साहित्य नहीं है। इन दोनों के संतुलित श्रेय से जो साहित्य प्रस्तुत होता है, वही साहित्य है। जीवन की वे गहरी अनुभूतियाँ साहित्य के लिए अनिवार्य हैं, जिनमें रचयिता की सच्ची आत्मीयता या ईमानदारी हो।[२] आत्मीयता से उद्भूत गंभीरता के बिना साहित्य का मूल्य और महत्व नहीं होता। इसीको एक दूसरे आलोचक ने 'अनुभूति की परिपूर्णता' (परफेक्शन ऑव एक्सपीरियंस) कहा है।

जीवन की परसमाप्ति नहीं होती, जीवनजीवी साहित्य इसीलिए नश्वर नहीं हो सकता। जीवन की आकांक्षा, जीवन का संजीवित हृदय बदलता

---

२. दि हाई सीरियसनैस व्हिच कम्स फ्रॉम एब्सोल्यूट सिन्सियरिटी।

नहीं है। यथार्थ के कट्टर हिमायती काडवेल को भी यह नित्य सत्य स्वीकार करना पड़ा है। अनेक विचार-विमर्श और युक्तियों के अनन्तर काडवेल को इस ठंढी सांस के साथ सन्तोष करना पड़ा कि नक्षत्रमाला के समान ही मानव हृदय की वासनाएँ अपरिवर्त्तित हैं।[3] सब-कुछ बदल गया; किंतु प्रेम, उत्साह, दया, क्रोध ये बातें कहाँ निर्मूल हो सकीं? आज जो लोग प्रेम के आख्यानों पर लानत-मलामत करते हैं, वे भी छाती पर हाथ रखकर देखें कि खिड़की-किवाड़ बंद रखने के बावजूद वह अन्तस्तल में जा बसा है। मानव-समाज की यह भित्ति, एक से दूसरे के संबंध का दृढ़ बंधन उसी कच्चे धागे का है। मोटले ने रूसो की जीवनी में इस प्रेम को मानव की सर्वापेक्षा तीव्र अनुभूति और कोमलतम मनोवृत्ति कहा है।[4] इन्हीं मानव-सुलभ भावों को उपजीव्य बनाकर जो साहित्य होता है, वह युगानुग तो होता ही है, युग-युग का भी होता है।

अपनी रचना में रचयिता की एक स्वाभाविक कामना होती है। यह कामना होती है वस्तुतः में अपनी व्यापकता की और बहुत दिनों के लिए अपनी अमरता की। सब किसीकी यह इच्छा पूरी नहीं होती हो, यह और बात है। वैसा पराक्रमी क्षमता नहीं हो, यह स्वाभाविक है। किंतु उससे भी स्वाभाविक बात यह है कि ऐसी कामना तो होती ही है। प्रत्येक साहित्यकार युग-युग के मनुष्य-समाज को लक्ष्य करता है। वर्त्तमान को

---

३. दी हिज़ डिज़ायर्स ऐज़ ऐंशिएण्ट एंड पंक्चुएल ऐज़ दि स्टार्स।

४. दि मोस्ट इंटेन्सिंग ऑव ह्यूमॅन रिलेशन एंड दि मोस्ट पावरफुल ऑव ह्यूमॅन पैशन।

मनाकर लोकप्रिय होने की प्यास बहुत कम ही लोगों में होती है। जो अपने को युग और जीवन का गायक कहकर संतोष देते हैं, वे अपनी आकांक्षा को पहचानते नहीं। और सच तो यह है कि ऐसे कलाकार भी अपने को युगधर्मी समझते हुए युग-युग के साहित्य की साधना करते हैं। धर्म से जीवन की स्थिति मानी गयी है। किंतु ऐसे भी भ्रांत लोग मिलते हैं, जो अनजानते उस स्वाभाविक धर्मके वृत्त में कोल्हू के बैल की तरह घूमते हैं, पर धर्म को तर्क से निर्वासित करने को सदा-सर्वदा तैयार बैठे हैं। इसी प्रकार अपने को युगधर्मी कहनेवाले लोग स्वभावतया युग-युगधर्मी होते हैं।

आज तक के इतिहास में बहुतों में और बहुत दिनों के लिए व्याप्त होने की इस अपराजेय आकांक्षा के अनेक उदाहरण हैं। कवि भवभूति से युग विमुख रहा। लोकप्रिय न हो सकने की इस निराशा को उसने सुदूर भविष्यत् की ओर निहारकर चकमा दिया :

उत्पस्यते सपदि कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।

व्यास ने अपनी कृति की अचल हिमाचल और महिमामय सिंधु से तुलना की :

यथा समुद्रो भगवान् यथा वा हिमवान् गिरिः।

आदिकवि वाल्मीकि की रचना में इसी आकांक्षा से यह विश्वास प्रकट किया गया है :

यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले
तावत् रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति॥

कविगुरु रवीन्द्रनाथ ने इसी स्वाभाविक विश्वास से कहा :

तुमि कि करेछ मने
जेनेछ पेयेछ तुमि आदि अन्त मम ?
फेलिया दियाछ मोरे
आदि अंत शेष करे
पड़ा पूँथि सम ?[५]

आपको इस आकांक्षा के ऐसे ज्वलंत उद्धरण और भी मिलेंगे। किंतु आप यह कह सकते हैं कि कामना पर रोक नहीं लगायी जा सकती। रावण भी स्वर्ग में सीढ़ियाँ लगाने की इच्छा रखता था। वह इच्छा उसके जीवन के साथ ही चली गयी। रावण की इच्छा वास्तव में चली गयी। बहुतेरे साहित्यकारों की भी चली जाती है। कपालपर पसीना और कागज़ पर स्याही अनेक कलम के धनियों ने सुखायी, पर सब अमर नहीं हो सके। कुछ तो हुए ही हैं। जो नहीं हो सके, उनके लिए हमें अफ़सोस है, किंतु हम इसे अकारण तो नहीं कहेंगे। उनकी साहित्य-साधना में त्रुटि रही है। यह त्रुटि अनेक प्रकार की हो सकती है। जो लिखने के लिए लिखते हैं, सब समय वह स्थायी साहित्य का दान नहीं दे सकते। कहावत की तरह यह बात प्रचलित है कि कविता लिखी नहीं जाती, लिख जाती है। चाहे कितना भी बड़ा कवि क्यों न हो, वह श्रेष्ठ साहित्य तैयार करने का दावा नहीं कर सकता। प्लेटो की तो राय है कि जब तक कवि

५. तुम क्या समझते हो कि तुमने मेरा आदि-अंत जान लिया ? शुरू से आखिर तक पढ़कर किताब की तरह तुमने मुझे डाल दिया !

हृदय से अभिप्रेरित नहीं होता, तब तक वह रचना नहीं कर सकता। इस हृदय की प्रेरणा के बिना हार्दिकता भी नहीं आती, जो काव्य में मर्मस्पर्शिता का समावेश कर सकती है। यों तो साहित्यिक ग्रन्थों के स्वाध्याय से भी नवीन रचना की प्रेरणा मिलती हैं; किंतु स्वतः अनुभूत भाव के बिना मार्मिकता नहीं लायी जा सकती, जो रचना रचयिता को आनंदाभिभूत नहीं कर सकती, बेगारी टालने की नीयत से रची जाती है, उससे अन्य लोग आनंद नहीं पा सकते। जान बर्ट ने लिखा है—'ऐसी चीज़ कभी लिखो ही नहीं, जो तुम्हें आनन्द से आप्लावित नहीं करती हो।'[६] जिस रचना में ये गुण हैं, वह अवश्य ही कालजयी होती है।

वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, तुलसीदास आदि की रचनाएँ देखिए। सर्वसामान्य भाव-भूमि पर होने के कारण, मानव-अंतस्तल से संबंधित होने के कारण, उनकी रस-मन्दाकिनी आज भी मानव-हृदय को सिंचित कर रही है। युग बीता कि वाल्मीकि-व्यास हुए। वह युग और आज का युग रंग-रूप में कतई बदल गया है। शताब्दी-पर-शताब्दी समय के पंख पर अतीत हो गयी; किंतु रामायण-महाभारत का रस-स्रोत जैसा तब था, वैसा ही आज भी है। उससे आनंद की जो रागिनी तब झंकृत हुई थी, वही आज भी हो रही है। काल के व्यवधान को केवल ऐसी ही कृतियाँ जीत सकती हैं। कालिदास की शकुन्तला जर्मन कवि गेटे के मन में बस गयी। धर्म और आचार-विचार में इन दोनों कवियों की दूरी थोड़ी नहीं है। एक जर्मन मनीषी ने कहा कि उपनिषद् और गीता की अपेक्षा शकुन्तला

---

६ नेवर राइट एनीथिंग दैट डज़ नॉट गिव यू ग्रेट प्लेज़र; इमोशन इज़ इज़ीली प्रोपैगेटेड फ्राम दि राइटर टु दि रीडर।

प्राचीन भारत का अधिक सच्चा रूप पाते हैं।[७] रामायण, महाभारत या अन्य ऐसे कालजयी ग्रंथों में उस युग की छवि नहीं है, तत्कालीन समाज का परिचय नहीं है, सामयिक समस्याओं का स्पंदन नहीं है, ऐसी बात नहीं। किन्तु सब-कुछ के होते हुए भी उनमें मानवी भावों का आधार है, जो आज के युग में भी अपने उसी रूप में मानव-अंतःकरण में पलते चले आ रहे हैं। आज के मनुष्य भी जब उन ग्रंथों के साथ हो लेते हैं, तो इन्हें भी उनमें अपनी ही परिछाईं दिखायी देती है, अपने ही अंतस्तल की धड़कन सुनायी देती है। वास्तव में संसार चाहे जितना बदल जाय, मानव-चरित्रमें युगान्तरकारी परिवर्त्तन नहीं हो पाया है। यही कारण है कि मानव-रचित साहित्य में एक युग का मनन-चिंतन अगले युग तक प्रवाहित होता है। श्रेष्ठ साहित्य एक ऐसी धारा है, जिससे आनंद और विवेक की लहरें उठकर युग-युगांतर को प्लावित करती हैं।

कवि शेक्सपियर की बात लीजिए। उनकी कृतियों के बारे में कार्लाइल ने कहा कि आनेवाली पीढ़ियाँ भी शेक्सपियर की रचनाओं से नूतन अर्थ और जीवन के नवीन तथ्यों को ढूँढ़ निकालेंगी। इस कथन की अक्षरशः सत्यता आज सिद्ध हो रही है। शेक्सपियर का युग लद गया। उसके समय का व्यक्ति-प्रधान समाज आज नहीं है। किंतु शेक्सपियर की

७. इट इज़ हियर दि माइंड ऐंड कैरेक्टर ऑव ए नेशन इज़ बेस्ट आट टु लाइट. [illegible] ऐंड आर [illegible] एडमिट दैट [illegible] ए [illegible] ऐंड मोर [illegible] नेशन [illegible] [illegible] फ्राम [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ।

रचनाएँ पुरानी नहीं पड़ीं। क्यों ? इसलिए कि स्थूल जीवन के संस्कारों से परे शेक्सपियर ने सर्वसुलभ भाव-भूमिपर अपनी रचनाओं की भित्ति खड़ी की। होमर को पाश्चात्य देशों के लोग चिरंतन मानते हैं। वास्तव में वह आत्मा अमरता के शृंगार से महिमान्वित हो उठी। होमर के युग का पेगन धर्म नहीं रहा। वह सामाजिक शृंखला, वह धार्मिक संस्कार आज नहीं है; लेकिन उसके काव्य का आदर आज भी है और वह है उपर्युक्त कारण से ही। ऐसे अन्य अनेक कवि एवं कृतियों का यहाँ उल्लेख किया जा सकता है। कालिदास के बारे में कविगुरु रवीन्द्रनाथ ने ऐसा ही कहा है। दाँते के बारे में कवि शेली ने यही बात लिखी है। शाहनामा के कवि फिरदौसी के विषय में भी यही आलोचना की जा सकती है।

रचना की श्रेष्ठता की कसौटी काल का व्यवधान है। जो अपने युग में आदृत होता है, वही श्रेष्ठ कवि है, यह भी नहीं कहा जा सकता। ऐसे लोकप्रिय युगधर्मी कवि अनेक हुए, जो स्वप्न के समान ही खो गये। कवि पोप की कभी बड़ी इज्जत थी। वाल्तेयर-जैसे समर्थ साहित्यकार ने पोप को न केवल यूरोप का, बल्कि समग्र संसार का श्रेष्ठ कवि घोषित किया था। किंतु आज लोग इसमें भी संदिग्ध हैं कि वह कवि था भी या नहीं! ऐसे ही और भी हैं।

जर्मन कवि गेटे ने अपनी एक रचना में कहा है कि जिस अलक्षित शक्ति से फुलवारी में फूल खिलते हैं, मानव के मन में, कविता में, वही शक्ति प्रस्फुटित होती है। हमारी समझ से यही शक्ति विश्व-मानवता की प्रेरणा है, जो साहित्य की नित्यता का कारण है। हृदय के सामान्य भावों में मनुष्य मात्र एक है, इसमें न तो जाति-धर्म का व्यवधान है, न काल की

दीवार। मानव-सभ्यता का इतिहास इस बात का साक्षी है, ज्ञान-विज्ञान की चरम उन्नति से मनुष्य ने असाध्य साधन किये हैं। वह चिड़िया से तेज आकाश में उड़ सकता है, चन्द्रलोक में जाने के मन्सूबे गांठता है और क्या-क्या नहीं कर रहा है। इस विकास-क्रम से बाह्यतः मनुष्य में असाधारण परिवर्त्तन हो गया है। किन्तु जब हम जीवन के प्रति आसक्ति, मृत्यु का भय, प्रेम का आकर्षण, त्याग-भोग, सुख-दुख, मुक्ति-बंधन की बात सोचते हैं, तो पाते हैं कि बाह्यतः लाख परिवर्त्तन चाहे हुआ हो, भीतर का मनुष्य आज भी वही है। अपनी भावनाओं में दस हज़ार साल पहले हम जहाँ थे, आज भी वहीं हैं, उनमें एक तिल आगे नहीं बढ़ सके हैं। सभी कालों और सभी देशों के मनुष्यों में रूपगत, आचारगत, धर्मगत असामंजस्य होते हुए भी जरा-मृत्यु, उदय-लय, नूतन-पुरातन के उत्थान-पतन में एक संगीत है। सर्वमानव के इसी अखंडताबोध में साहित्य की नित्यता है और शाश्वत साहित्य में हम जीवन के इसी नित्य-सत्य का ज्वलंत प्रकाश पाते हैं।

साहित्य में सहित के भाव का विश्लेषण बहुतों ने किया है। यह सहित है क्या कि जिससे साहित्य शब्द की उत्पत्ति हुई है? यह सहित देश-काल और मनुष्य के संयोग का ही दूसरा नाम है। समय, स्थान और मानव हृदय की संगति से साहित्य की उत्पत्ति होती है। बाहरी उपादानों का, रूप-सुषमा में प्राणों के माधुर्य का मेल ही साहित्य होता है। कितनी ही बढ़िया मूर्ति हो, कितना ही सुन्दर चित्र हो, कैसा ही काव्य-संदर्भ हो, जब तक उसमें हृदय का योग नहीं होता, वह निर्जीव है। और इस हृदय-योग में ही सर्वमानव की सत्ता है। वास्तव में निज की

अलक्षित शृंखला में, एक अज्ञात सूत्र में सभी प्राण ग्रथित हैं। विश्व के एक अखंड, पूर्ण जीवन-स्पंदन में एकीभूत होने के कारण सुख-दुःख में हम सब समान हैं। जब हम अपनी बात कहने जाते हैं, तो अज्ञात में वह अन्य लोगों की ही बात होती है। जब हम औरों की बात कहते हैं, तो मेरे अजानते वह मेरी अपनी ही बात होती है।

अंतर माझे वसि अहरह
मुख हते तुमि भाषा केड़े लह
मोर कथा लये तुमि कथा कह
मिशाये आपन सुरे।

मनन और अनुभूति में एक मनुष्य दूसरे का सहगामी होता है। साहित्य-रचयिता इसीलिये मानव-मात्र से एकात्म है। अपनी रचना में वह सब की भावना में अपनी भावना को लीन पाता है, अपनी भावना में सब की भावना को एकीभूत पाता है। यही अखंडता-बोध साहित्य की नित्यता है। यह युग का होकर ही युग-युग का होता है।

कथा-साहित्य के जादूगर शरच्चन्द्र ने अपने सम्मान में आयोजित की गयी सभा में कहा था—'किसी देश का कोई साहित्य सदा स्थिर नहीं रहता। विश्व की अन्यान्य वस्तुओं की तरह उसका भी आदि और अन्त हुआ करता है।' काल की शेष सीमा हमें ज्ञात नहीं। अनंत काल के गले में बाँहें डालकर कोई अंतिम बिंदु तक चलेगा या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। हम इतना जानते हैं कि व्यक्ति क्षणजीवी है, जाति उससे दीर्घजीवी। जातिसे भी दीर्घजीवी है मानव-समाज। इस मानव-समाज से भी एक दीर्घजीवी वस्तु है। वह है

मुद्रित वाङ्मय का कोई हिसाब नहीं। सुनते हैं, केवल अंगरेजी भाषा में प्रतिवर्ष दस हजार से कम नयी पुस्तकें नहीं निकलतीं। अगर सारे संसार की पुस्तकों को एक जगह जमा करना संभव हो सके, तो ताज्जुब नहीं कि आज उनसे वह स्वर्ग की सीढ़ी मजे में बन जाय, जिसे बनाने की इच्छा लिए ही कभी पराक्रमी रावण मर गया! मगर विपुलता की इस साधना की सिद्धि बड़ी तुच्छ है। रचनाओं का गगनचुंबी हिमालय तो आज खड़ा हो रहा है, किंतु लोक को सजलश्यामल करनेवाली आनंददायिनी गंगा उसमें से नहीं प्रवाहित होती। हमारे इस अपार रचना में गीता, महाभारत, रामायण कहाँ मिलती है? ठीक इसी तरह चित्र, संगीत, मूर्त्ति और वास्तु-कला की कालजयी महान् कृतियाँ नजर नहीं आतीं। पिरामिड, ताजमहल या बरबुदर आज कहाँ बनता है?

इसके कारण तो अनेक हैं, पर एक ही कारण सबसे बड़ा है। वह यह कि आज कलाकार और उसकी कला में, साहित्यकार और उसकी रचना में समरसता नहीं। बौद्धिक व्यायाम से विज्ञान की देन ही संभव हो सकती है, काव्य के लिए मनोनिग्रह और आत्म-तल्लीनता के अतिरिक्त साधन ही नहीं। काव्य एक सृष्टि है, इसीलिए सृष्टि को काव्य और स्रष्टा को कवि कहा गया है। समाज के अगम चित्त-सागर से मोती चुनकर पिरोना, सृष्टि के गूढ़ रहस्यों को आईने पर प्रतिबिंब की तरह स्पष्ट व्यक्त करना एक तपस्या है, जीवन की साधना है। साधक ही ऐसा कर सकता है। आदि काव्य का उदय कब हुआ? जब कवि की एकाग्रता इस हद को पहुँच गयी कि उसके सर्वांग में चींटी के वमीठे चढ़ गये। सूरदास को सच्ची कविता के दर्शन तब मिले, जब आँखों की खिड़की के वाहर-वाहर

भटकने वाला उनका मन अंतस्तल में निमग्न हो गया। इस आत्म-तल्लीनता के बिना कवि को दिव्य-दृष्टि नहीं मिलती और न इस दिव्य-दृष्टि के बिना महत् और मंगलमय काव्य की रचना ही हो सकती है। बाइबिल में एक जगह कहा गया है—'व्हेयर देयर इज़ नो वीज़न दि पीपुल पेरिश', यानी जहाँ दिव्य दर्शन नहीं हैं, वहाँ लोक का नाश होता है। मनुष्य की प्रत्येक प्रकार की दृष्टि के बारे में यह अकाट्य सत्य है।

किसी भी प्रकार की सृष्टि हो, वह तपःसिद्ध होती है। सृजन की प्रत्येक आकांक्षा के पीछे एक वेदना होती है। मंजर में फल-सृष्टि की आकांक्षा से हम वेदना-व्याकुलता पाते हैं, जननी में शिशु-जन्म की आकांक्षा में वेदना-चंचलता देखते हैं। ये दोनों ही तप हैं। इन्हीं तपःक्लिष्ट पावन प्रयासों के अनंतर सृष्टि का, सिद्धि का उन्मुक्त आनंद हम पाते हैं। साहित्य-सृष्टि भी ऐसी ही एक तपस्या है। मन की अव्यक्त वेदना को प्राणमय वाणी के आधार से, रूपहीन भाव को जीवंत भाषा के अवलंब से साकार कर देना ही कवि-कर्म है। मंजर जैसे फल की आकांक्षा में, माँ जैसे शिशु की आकांक्षा में प्रतिमुहूर्त प्राणों की चंचलता और वेदना की अधीरता में डूबी रहती है, कवि भी सृष्टि की साधना में आकंठ डूबा रहता है। जिसमें यह तपस्या नहीं, यह वेदना-बोध नहीं, सृष्टि के लिए वह व्यर्थ-सा है। स्वतःसिद्ध हुए बिना औरों को सिद्धि के शाश्वत आनंद का स्वाद नहीं दिया जा सकता। इस साधना और सिद्धि के अभाव में भाव और भाषा की गंगा-जमुनी तो तैयार की जा सकती है, पर उस साहित्य में न तो मार्मिकता होगी, न महानता।

साहित्यकार के लिए आत्म-दर्शन आवश्यक है और आत्म-दर्शन में विश्व की अखण्डता का बोध तो अनिवार्य है ; क्योंकि उसे अपनी प्राप्ति को सब की और क्षणिक प्राप्ति को चिरकाल की बनाना पड़ता है। रवीन्द्रनाथ ने कवि-प्रतिभा को इसीलिए 'विश्व-मानवता' की आख्या दी है। सत्य के कवि को विश्व आत्मरूप और आत्मा विश्वरूप होती है। वह व्यक्ति और विश्व-जीवन के गूढ़ संबंध का ज्ञाता होता है, समग्र जीव एवं काल की एकाकार सत्ता उसे प्रत्यक्ष होती है। अपनी 'मैं' शीर्षक कविता में रवीन्द्रनाथ ने लिखा है—

"भूत, भविष्यत लये जे विराट् अखंड विराजे से मानव माझे,
निभृते देखिबो आजि ए आमिरे सर्वत्रगामी रे।"*

यह अपने में विश्व को और विश्व में अपने को व्याप्त देखना कोई जादू नहीं, बल्कि योग है। योग के मानी हैं एकाग्र साधना। निष्ठा और प्रेम से ही सृष्टि को आत्मसात् किया जा सकता है और आत्मसात् करके ही उसे व्यक्त किया जा सकता है। आत्मोपलब्धि और उसकी यथावत् प्रतिष्ठा ही साहित्यकला है। काडवेल ने कहा है—"कला मनुष्य की आत्मोपलब्धि का साधन है और बारी से फिर वही मनुष्य का वास्तव स्वरूप है।"† जिस चीज की पूँजी अपने पास नहीं, उसका दान

---

* अर्थात काल के बन्धन से परे जो विराट् अपनी अखंडता लिए विराजित है, मानव में मैं आज एकान्त में उस सर्वत्रगामी 'मैं' को देखूंगा।

† आर्ट इज़ वन् ऑव दि कण्डीशन्स आव मैन्स रीयलाइज़ेशन ऑव हिमसेल्फ, एण्ड इन इट्स टर्न इज़ वन् ऑव दि रियेलिटीज़ ऑव मैन।—'इल्यूज़न ऐण्ड रियेलिटी'

किया जाना भी संभव नहीं। जो कवि लोक-हृदय की अनुभूतियों को, संसार के रहस्यों को मूर्त और जीवंत करता है, मानना होगा कि अपने हृदय में उन्हें उसने प्रत्यक्ष किया है। यह क्षमता सत्यनिष्ठा से आती है। प्रेम और ईमानदारी से विषय को अंतरंग किए बिना सहज वाह्य प्रकाश हो भी कैसे सकता है? आचार्य विनोबा का कहना है—"कवि वाचासिद्ध होता है, इसलिए कि वह वाचाशुद्ध होता है।" सचमुच ही इस सिद्धि से असाध्य साधन भी होते हैं। अपनी सिद्धि से प्राप्त दिव्य-दृष्टि द्वारा उसे न केवल विश्व की अखंडता ही मालूम होती है, बल्कि युग में वह पारदर्शी आईने की तरह युगातीत को देखता है, वर्त्तमान के दामन में भावी को बाँध लेता है। कहा जाता है, ऋषिगण बोलते पहले थे, अर्थ उसमें बाद में प्रवेश करता था। यह बात अनहोनी-सी ही हमें लगती, यदि हमारे आगे आदि-कवि वाल्मीकि का ज्वलंत उदाहरण नहीं होता। वाल्मीकि ने रामायण पहले लिखी, राम ने उसे चरितार्थ बाद में किया।

हमारे आज के साहित्य की दीनता यही है, यहीं है। हम प्रेम से वस्तु को भावमय नहीं बना पाते, फलतः रचना केवल जानकारी की चीज रह जाती है। उसकी उतनी ही सार्थकता रह जाती है, जितनी प्रचार और व्याख्यान की हो सकती है। भाव के बजाय शुष्क ज्ञान की वस्तु होने से ऐसी रचना से पत्रा की उपयोगिता-भर सिद्ध हो सकती है, उपन्यास-जैसा आनन्द नहीं आता। विषय को तो ज्ञान से जाना जा सकता है, विषयगत भाव के लिए मनुष्यता का उद्बोधन अपेक्षित होता है। विषय और विषय को व्यक्त करनेवाले में अद्वैत होने से

ही भाव का उदय होता है, वैसी ही रचना में मर्मस्पर्शिता आती है। गीता के विषय भगवान् कृष्ण ने कहे और जिस कवि व्यास ने उन्हें लिखा, उसे भी हम कृष्ण कहने लगे। ऐसा क्यों? क्योंकि कवि अपने विषय से एकाकार हो गया। अपनी सत्यनिष्ठा, अपने प्रेम से उसने प्राप्ति को प्रत्यक्ष अथवा भावमय कर लिया और इस तरह आत्मसात् होकर जो वस्तु उसकी चेतना का अङ्ग होकर संप्रकाशित हुई, वह उसका ही रूप होकर आयी, वही उसकी आत्मोपलब्धि हुई। ऐसी स्थिति के बारे में रवीन्द्रनाथ का कहना है—"ज्ञान द्वारा हम विषय को जानते हैं। इस जानने की क्रिया में ज्ञाता तो पीछे रहता है, ज्ञातव्य लक्ष्य-रूप में सामने रहता है। किन्तु भाव से हम अपने को जानते हैं, इसमें विषय उपलक्ष्य के रूप में अपने से ही मिला होता है। विषय की जानकारी के लिए विज्ञान है और मनुष्य के अपने आप को देखने के लिए साहित्य है। साहित्य की सत्यता मनुष्य की आत्मोपलब्धि में है।"

यहाँ यह भ्रम न उत्पन्न हो जाय कि हम सामयिक और सर्वजनीन साहित्य की अवांतर आलोचना में पड़ रहे हैं। युग-युग का अथवा सर्वजनीन साहित्य ही यथार्थ में साहित्य पदवाच्य है। उसका अक्षय रसस्रोत दीर्घकाल तक मानव-मन को प्लावित करता रहता है। फिर भी सामयिक अथवा रस्किन के 'बुक्स आव दि आवर' को हमने साहित्य ही माना है, बशर्ते कि वह सरकारी फिहरिश्त न हो। उसमें जानकारी के आँकड़ों के अतिरिक्त 'रसमय वाक्य' की कम-से-कम प्रतीति हो। काल की छलनी में छनकर वह टिकाऊ न भी हो सके, तो हर्ज नहीं, कम-से-कम अपने

क्षण के लिए तो उसकी एक सार्थकता हो। जिस एक मुहूर्त के लिए ही वह युग और जनता के मन को छू सके, उसी मुहूर्त की उसकी सार्थकता का एक मूल्य हम मानते हैं। अवतार और युग-पुरुष सदा-सर्वदा नहीं आया करते। व्यास और वाल्मीकि भी रोज-रोज नहीं आ सकते, न हर रचना गीता-रामायण हो सकती है। महान् व्यक्ति और महत् कलाकृति कभी-कभी ही मिलती है। इसलिए हमें युग-धर्म के अनुरूप बननेवाले सामयिक साहित्य पर भी संतोष रखना ही पड़ता है, इसलिए कि उन्हीं रचनाओं में से महान् कृति का कभी उदय हो आता है।* अगर सब कवि व्यास-वाल्मीकि और सब रचना गीता-रामायण ही होती, तो क्या होता, अनुमान नहीं किया जा सकता। ईश्वर की इस दृष्टि में ज्यादातर मनुष्य साधारण यानी रवीन्द्रनाथके शब्दों में 'पन्द्रह आना' हैं। वे कहते हैं—"ऐसे मनुष्य बहुत ही थोड़े हैं, जो मरने के बाद अमर होते हैं। इसी कारण यह पृथ्वी रहने के योग्य भी है। रेलगाड़ी के सभी डब्बे अगर रिजर्व होते, तो साधारण यात्रियों की क्या दशा होती!....ऐसी स्थिति में हम लोगों की बचत यही है कि उनकी संख्या थोड़ी है। नहीं तो उनके समाधि-स्तम्भों के मारे गरीबों को झोपड़ी बनाने का भी स्थान नहीं मिलता।" काव्य और कवि में भी अगर सब अमर ही होते, ऐसा ही कुछ होता। ग़नीमत है कि ऐसा होता नहीं।

---

* आउट ऑव पीसेज़ कम मास्टरपीसेज़ ऐज़ इवन आउट ऑव ईविल कमेथ गुड। पीकाक्स विल् कम व्हेन दे विल् कम। मीनव्हाइल लेट अस स्माइल फ़ार दि काक्स वी हैव ऐण्ड नॉट पाइन फॉर दि पी वी हैव् नॉट।

परन्तु वर्त्तमान साहित्य के प्रति हमारा रोना महज इसीलिए नहीं है कि उसमें से सर्वजनीन साहित्य नहीं मिल रहा है, बल्कि यह कि सामयिक साहित्य से जो-कुछ समझा जा सकता है, उसमें वह भी नहीं है। जो कमल पानी में खिलता है, वह अपने में से पानी के प्रभाव को सर्वथा दूर तो कर ही नहीं सकता। कवि या साहित्यकार जिस युग में रहता है, उस युग में जीवन की जो समस्याएँ होती हैं, उनसे प्रभावित होता ही है। किन्तु विषय से अपनी भावमयता स्थापित कर वह उसे ज्ञान का नहीं, आनन्द का आधार बना देता है। और उसकी वह भावमयता जितनी गहरी होती है, उसी हिसाब से रचना की मार्मिकता और स्थायित्व स्वयं बढ़ जाता है। काडवेल ने शेक्सपियर के बारे में कहा है कि उसके समय में व्यक्ति ही समाज का केन्द्र था और आज समाज का व्यक्ति-केन्द्र धूलिसात् हो गया है। ठीक ही है, किन्तु फिर भी शेक्सपियर को पढ़कर हम आज आनन्द पाते हैं। दैनिक समाचारपत्र की तरह उसकी रचनायें दूसरे ही दिन के लिए बेकार नहीं हो गयी हैं। कार्लाइल ने तो यह भी कहा है कि प्रत्येक युग के लोग शेक्सपियर के नये अर्थ से प्रीत होंगे। हो भी क्यों नहीं, साहित्य एक युग की भाव-धारा को आगामी काल तक ढो ले जानेवाला वाहन है। किन्तु किसी हद तक उसमें साहित्य-रस तो हो, प्रचार के पैम्फलेट से तो उसका अल्पायु होना निस्संदिग्ध है। रचना के प्रति लेखक की अपनी ईमानदारी चाहिए, जो आज बहुत कम मिलती है। और यही हमारे कहने का विषय है।

फोटो में और चित्र में, समाचारपत्र में और उपन्यास में, यथार्थ

जगत् में और साहित्य में जो एक प्रभेद है, वह कल्पना के जादू से है, यही प्रत्येक साहित्य-विचारक कहते आये हैं। आज जीवनोपयोगी साहित्य के तथाकथित हिमायती उसे जीवन से भाग कर स्वप्नलोक में जाना कहते हैं, क्योंकि कल्पना सत्य के विपरीत मानी जाती है। हकीकत में यह कल्पना साहित्यिक की आत्मीयता का नाम है—झूठ का नहीं। जो दुनिया है, वही साहित्य नहीं, जगत् को जो होना चाहिए, वह साहित्य का श्रेय है। और यही दिव्य-दर्शन साहित्यकार मन और जगत् के मेल से जिसके द्वारा पा सकता है, उसे लोग कल्पना कहते आये हैं, जो कि ठीक-ठीक कवि की आत्मीयता ही है। क्रिस्टोफर काड्वेल को भी इस कल्पना (हमारी समझ में कवि की आत्मीयता) की अनिवार्यता मान लेनी पड़ी है। वे कहते हैं—"किन्तु महज़ इस माया द्वारा ही ऐसी एक यथार्थ सृष्टि मुमकिन है, और किसी उपाय से नहीं।" फलतः हमें यह कटु सत्य अनिच्छापूर्वक भी कहना ही पड़ता है कि कल्पना के नाम पर लांछन लगाते हुए आज के अनेक साहित्यकार आत्मीयता से ही दूर हो गये हैं। युग और जीवनोपयोगी कहकर वे जिन-जिन विषयों का समावेश करते या चाहते हैं, उन विषयों से वे खुद घुले-मिले नहीं होते। लिहाजा वहाँ उनकी ईमानदारी नहीं होती, काव्य का सत्य भी प्रतिष्ठित नहीं होता। प्रगतिवाद के आग्रह से पंत जी ने 'ग्राम्या' लिख दी। उसमें उनकी 'बौद्धिक सहानुभूति' ही रही। ऐसी रचनाओं में आप मर्मस्पर्शिता कहाँ ढूँढ़ते हैं, जहाँ कवि का ही मन नहीं रमा? बुद्धि है, इसलिए वर्णन भी है। प्राणवत्ता तो प्राण के द्वारा ही लायी जा सकती है। इसीलिए हम देखते हैं कि सामयिक

उपयोगिता के लिए जो साहित्य सृजन किया जा रहा है, उसमें क्षण की भी सार्थकता नहीं आ रही है, युग-युग की बात ही बेकार है! पीड़ित पर साहित्य हो, शोषित पर हो, किसान-मजदूर पर हो, जिसपर भी हो, उसके साथ रचयिता की ईमानदारी होनी चाहिए, उनकी अनुभूतियों में सचाई होनी चाहिए। जो कहने की जरूरत है, वह कहना ही चाहिए। इसमें किसे एतराज हो सकता है? लोग तो इतना ही सिर्फ चाहते हैं कि कहनेवाला कहने के योग्य हो, उस बात के साथ उसकी सच्ची हमदर्दी हो, चन्दन और जनेऊ लगाकर ब्राह्मण बनने से न बनने में कोई हानि नहीं है। जीवनोपयोगी साहित्य देश को चाहिए, यह सत्य है; किन्तु जीवन-रहित साहित्य देश को नहीं चाहिए, यह भी सत्य है। जो पांडित्य-प्रसूत साहित्य-सृष्टि चाह रहे हैं, वे साहित्य के शुभेच्छु नहीं हैं। वे मनुस्मृति दें, चाणक्य-नीति दें, व्याकरण दें कविता को अपनी कृपा से वंचित ही रखें, तो जन-समाज सुखी होगा। जिस कवि की रचना और जीवन दो दूर किनारे हैं, सत्यता की धारा कुछ और है, उनके काव्य में चमत्कार तो संभवतः हो, शक्ति-सामर्थ्य नहीं होगी। और, दुर्भाग्य से आज का रवैया कुछ ऐसा ही है। 'ऐसा लिखना चाहिये', यह मान कर आज के अनेक साहित्यकार फर्माइशी चीजें तैयार कर रहे हैं और उसकी कृत्रिमता वैसी ही घातक हो रही है, जैसी कि बिच्छू का मंत्र जाननेवाले की साँप के गढ़े में हाथ देने से होती है। प्रगतिवादी रचना निन्यानवे फी सदी प्राण-हीन स्वस्थ शरीर-सी ही देखने में आ रही है।

सच्ची प्रेरणा प्रेम से आती है। माता संतान को अपना अंश समझती

है। उसके प्रति उसका प्रेम इतना प्रबल होता है कि उसके स्तन में दूध रुकता नहीं। जो कवि लोक को प्रेम करता है, सृष्टि को चाहता है, उसके लिए उसकी वाणी रोके नहीं रुक सकती। वही कविता स्वयं, धन्य होती है, दूसरों को धन्य करती है। आज कलाकार अपनी कला से अलग है, जैसे किनारे खड़ा नदी का दर्शक। कुर्ता-टोपी की तरह वह उसे शरीर की शोभा-भर मानता है, प्राण का अंग, जीवन का अंग नहीं। आज लोग यह भी कहते हैं—मेरी सृष्टि को ही देखो, मुझे देखने की न तो तुम्हें जरूरत है, न हक। मुझे गुलाब-सा जानो, मेरा रूप-सौरभ ही तुम्हारे काम का है, कांटे नहीं। मैं चाँद हूँ, मेरा कलंक मेरा ही रहने दो, मैं तुम्हें तो स्वच्छ चांदनी ही देता हूँ।* साहित्यकार के जीवन से साहित्य-प्रेमियों को प्रत्यक्षरूपेण सचमुच ही कोई हानि नहीं होती। परोक्ष से एक बहुत बड़ी क्षति होती है साहित्य-सृष्टि की और उसके प्रभाव की, जो घूम-फिर कर साहित्य-प्रेमियों की क्षति की पूँजी में ही शामिल हो जाती है। ऑस्करवाइल्ड कलाकार था, किन्तु व्यक्तिगत जीवन उसका अच्छा न था। ब्राउनिंग ने प्रेम की अनेक एश्वर्यमयी रचनाएँ कीं, किन्तु वह चरित्रवान प्रेमी नहीं, दुश्चरित्र विलासी था। जनता उन रचनाओं को तो पढ़ती है, पर उन रचयिताओं के नैतिक पतन के कारण उसपर आस्था नहीं होती और उन रचनाओं का प्रभाव हीन हो पड़ता है। स्त्रियों को औरों का मन मोहना पड़ता है, इसलिए उन्हें रूप-सज्जा की जरूरत होती है। साहित्य को औरों की

---

* चंद्र कहे, विश्वे आलो दियाछि छड़ाये।
कलंक जा आछे, ताहा आछे मोर गाये। —रवीन्द्रनाथ

चित्त-शुद्धि और जीवन-उन्नयन करना पड़ता है, इसलिए इसमें भावना की विशुद्धता, अकपटता अनिवार्य है। कलारी के हाथ में दूध को भी जब लोग दूध नहीं विश्वास कर सकते, तो कृत्रिम और हीन आचरणवाले साहित्यकार के हाथों नैतिकता के उन्नयन की कुंजी का कैसे भरोसा किया जा सकता है? चोर के उपदेश से प्रभाव नहीं होगा। हम शुद्ध भावना चाहते हैं; चाहते हैं कि जो अच्छी बात कहता है, वह खुद अच्छा भी हो। जो पूँजीवाद के नाश का गीत गाता है और अपनी पूँजी को प्रतिनियत बढ़ाता तथा सुरक्षित करता है; जो राष्ट्र के पेड़ों को तलवार फलाने को कहता है, हिमालय को करवट बदलने को कहता है, आकाश को आग उगलने का आवाहन देता है, वही जब राष्ट्र के हत्यारों की जी-हुजूरी से जीविका कमाता है, तब वह कविता अमृत के बजाय जहर बाँटती दीखती है, वह कवि दोस्त के बजाय दुश्मन दीखता है। आप ऋषि न हो सकें, यह तो हो सकता है। आप जो हैं या होना दिखाते हैं, वह भी नहीं हैं, तो यह कैसी बात है? ऐसे हितू से शत्रु ज्यादा दयालु हैं, जो कम-से-कम ढाल की आड़ में तलवार नहीं रखते। राष्ट्र-कवि में राष्ट्रीयता न हो, तो कहना होगा, इमली में खटाई नहीं। लोग तीती इमली भी नहीं चाहते, राष्ट्रीयता के उपदेश देनेवाले अराष्ट्रीय कवि भी नहीं चाहते। काम कोई न भी कर सके, मगर विचार और बोली में तो समता होनी चाहिए। मुँह में राम और बगल में और कुछ क्यों? कोई हिरन नहीं हो सकता, तो न तो यह उसका दोष है, न दुःख की ही बात है। मगर जो हिरन की खाल ओढ़ लेता है, वह क्रोध का पात्र ही है। जिस कवि और उसके काव्य में

समरसता नहीं, वह काव्य निरर्थक ही नहीं, घातक भी है। त्याग के लिए दान जरूरी नहीं, पर दान तो बिना त्याग के संभव ही नहीं। भावों का दानी जीवन में रिक्त हो सकता है, जीवन से रिक्त नहीं होता। महाराष्ट्र को अभंग-वाणी का दान देनेवाले तुकाराम को पहले अपने मन और इन्द्रिय को सब प्रकार से भङ्ग कर लेना पड़ा। अगर तुम चाहते हो कि तुम्हारी हृदय-निधियों से जगत् धन्य हो, तो उस सागर का मंथन हो लेने दो। तुम जो दान करना चाहते हो, उस धन का पहले अपने-आप में संचय कर लो। यही है कवि और काव्य की समरसता, रचना और रचयिता के जीवन की तदाकारता, अभिव्यंजना के प्रति आत्मा की निश्छल निष्ठा। 'संत हंस गुण गहहिं पय, परिहरि वारि विकार'—यह अपनी जगह पर दुरुस्त है। इसमें कृतित्व औरों का है। किन्तु तुम जो दूध-पानी को एक करके रख दोगे, तो तुम्हारी कौन-सी कीर्ति रही। सच्चा आदमी तो वह है, जो स्वच्छ दूध ही परोसे, चाहे वह कतरा ही हो; वह भी न हो तो पानी ही परोसे, मगर खालिस। तुम सब के साथ अपने को एक नहीं कर सकते, तो न सही, अपने को अपना तो करो। तुम्हारी होकर जो रचना औरों के पास जाती है, वह भी तुम्हारा परिचय न हो, तो व्यर्थ है। वह रचना अपने लिए भी नहीं, औरों के लिए भी नहीं। आज यह अनिवार्य हो उठा है कि रचना और रचयिता का यह दुराव दूर कर दिया जाय, तभी सच्चे साहित्य का आविर्भाव होगा। ईमानदार कवि की हमें जरूरत है, मार्मिक कविता आप ही आएगी।

साहित्य में 'मैं'

'मैं' से हमारा मतलब अपने से नहीं, व्यक्ति से है। बकौल अकबर साहब, खुदा का ज़िक्र जैसे इस जमाने में जुर्म है, वैसे ही साहित्य में व्यक्ति की चर्चा भी बुजु'आ है। सामाजिक समष्टिवाद के इस युग में वैयक्तिक आवेदन अथवा व्यक्तिगत सुर का कोई मूल्य ही नहीं। आज इकतारा की तान नहीं, ऐक्य तान चाहिए। यों तो साहित्य में सीमित 'मैं' के हिमायती हम भी नहीं, लेकिन हमारी निजी धारणा है कि इस व्यक्ति से लोगों को ऐसी प्रबल वितृष्णा महज इसलिए है कि आज के वायुमंडल में व्यक्ति-स्वातंत्र्य के विरुद्ध विद्रोह का तीखा विष फैला हुआ है। चूँकि संस्कार-जैसी एक गाँठ लोगों में पड़ गयी है, इसलिए लोग शब्द का वाच्यार्थ-भर ही ग्रहण करते हैं, उसकी ध्वनि या मर्मवाणी पर ध्यान नहीं देते। हम समझते हैं व्यक्ति से एक आदमी का अर्थ न लेकर यदि विशिष्ट अभिव्यक्ति, अन्य अनेक से भिन्न एक व्यंजना-विशेष का अभिप्राय लिया जाय, तो इस असीम अश्रद्धा की गुंजाइश ही नहीं रह जाती। ऐसी दशा में व्यक्ति से तात्पर्य होगा व्यक्तित्व का। व्यक्तित्व विशिष्ट अभिव्यंजना के माध्यम से बहुतों में आत्म-भाव की व्यापकता, अनेक में एक की व्याप्ति, समग्र मानव-सत्ता में निजत्व के प्रसार का प्रयास है। कला-विचारकों ने स्वीकार किया है कि लेखक के आत्म-भाव का अगर पाठकों पर प्रभाव हो, पाठक भी दूसरों के साथ उसका वैसा ही अनुभव करें, तो समझिए कि

उद्देश्य की यह सफलता ही कला है। † साहित्य में इस 'व्यक्ति' को ऐसे व्यक्तिगत सुर को हम सार्थक ही नहीं मानते, बल्कि यह मानते हैं कि इस व्यक्तित्व के बिना रचना का कोई मोल ही नहीं हो सकता। जिन कला-कृतियों में समग्र मानव-सत्ता के लिए अमर रागिनी अनुप्राणित है, उनमें यह व्यक्तिगत सुर अथवा सीधे शब्दों में यह कहें कि रचनाकार का व्यक्तित्व अवश्य है। कलाकार की आत्मीयता, उसकी निजी अभिज्ञता, उसके व्यक्तिगत रसबोध के बिना कालविजयी श्रेष्ठ साहित्य की सृष्टि हो ही नहीं सकती। लेखक का व्यक्तित्व ही रचना की आत्मा है। रामायण की भाव-भूमि सर्व-मानव-सुलभ है, किन्तु वाल्मीकि का व्यक्तित्व उसकी पंक्ति-पंक्ति में सवाक् है। वह कवि का ही निजस्व है, केवल कवि का। होमर, दांते, शेक्सपियर, गेटे, कालिदास प्रभृति श्रेष्ठ कवियों ने लोक में अपनी रचनाओं द्वारा जिस आनन्दामृत का वितरण किया है, उसका रूप तो एक ही है, परन्तु स्वरूप एक नहीं है। उन रचनाओं से हम आनन्द तो एक-सा ही पाते हैं, किन्तु एक ही तरह से नहीं पाते। इस 'तरह' की जो भिन्नता है, वह व्यक्ति का दान है. वह व्यक्तित्व या निजत्व का परिणाम है। सृष्टि यानी जड़ सृष्टि के उपादानों में वैचित्र्य है और कवि-मानस में भी विभिन्नता है। बाहरी उपादान तो सभी कलाकारों की हार्दिकता की संजीवनी से एक-से जीवन्त हो आते हैं; परन्तु उनका साहित्यिक

---

† इफ़ ए मैन इज़ इनफेक्टेड विथ दि आथर्स कंडीशन ऑव सोल, इफ़ ही फील्स दिस इमोशन विथ अदर्स, दैन दि ऑब्जेक्ट व्हिच हैज़ इफेक्टेड दिस इज़ आर्ट। —टाल्सटाय

प्रकाश, उनका व्यक्तीकरण एक तरह का नहीं होता। साहित्य में इसी को हम व्यक्तित्व कहते हैं। जिस विशेष व्यंजना के कारण शेक्सपियर शेक्सपियर है और कालिदास कालिदास है, उस निजी रसबोध का साहित्य में निश्चित मूल्य है, बल्कि यों कहिए कि उसीसे रचना साहित्य हो सकती है। लेखक के व्यक्तित्व का प्रकाश ही ग्रन्थ का जीवन और मर्यादा है।* विषय-वस्तु का आकलन रचना नहीं। बाह्य जगत् के जड़ उपादानों को कवि की चित्-शक्ति का संस्पर्श जीवनमय बनाता है, तब उपकरण रस-रूप होते हैं। जब तक उपकरण रस-रूप नहीं होते, वे काव्य या साहित्य के अन्तर्गत नहीं आ सकते। उपकरण की यह रसमयता कवि की निजस्व वस्तु है। इसलिए साहित्य को हम सृष्टि कहा करते हैं, इसीलिए साहित्य-कला अनुकरण नहीं, सृष्टि के अतिरिक्त सृष्टि है।

साहित्यिक कृतियों के मूल्य-निरूपण में हमें दो विषयों पर ध्यान देना पड़ता है। एक तो यह कि साहित्यकार ने लिखा क्या है और दूसरी यह कि उसने उसे लिखा कैसे है। पहली से तात्पर्य रचना के उपादान या विषय-वस्तु से है; दूसरी से रचना के रूप या आकार से, जिसके आश्रय में रचना के उपकरण पिरोये जाते हैं। अंगरेज़ी में इन्हीं दो अंगों को 'मैटर' और 'फार्म' कहते हैं। बहुत-से लोग उपकरण को प्राण और उपादान को काया अथवा आत्मा और आकृति भी कह बैठते हैं। सच पूछिए तो यह धारणा भ्रांत है। उपादान रचना

---

* ए बुक कैन नेवर बी एनिथिंग मोर दैन दि इम्प्रेसन ऑव इट्स ऑथर्स थॉट।

की आत्मा नहीं हो सकता। वह तो जड़ जगत् का अंग है। वह न युग की, न व्यक्ति की सम्पत्ति है। वह सब का और सब दिनों का है। उसमें अपने तईं नवीनता तथा सप्राणता नहीं होती। इसीलिए रचना के उपादान में रचनाकार का कोई कृतित्व नहीं। उपादान की उत्तमता, महत्ता या मूल्य पर रचना की उत्तमता, महत्ता या मूल्य निर्भर भी नहीं करता। उपादान तो तभी मूल्यवान होते हैं, जब उसके उपयोग में रचनाकार अपनी आत्म-शक्ति का संयोग करता है। तब जड़ उपादान जीवन्त ही नहीं होते, भावों की रस-माधुरी में नहाकर रसमय भी हो उठते हैं। यों तो साहित्य में जो उपादान बाहरी दुनिया से लिये जाते हैं, वे हमारे-आपके परिचित ही होते हैं, क्षुद्र और साधारण भी हो सकते हैं; किन्तु जब वे रचना के आश्रय में आ जाते हैं, तो हम पाते हैं कि अरे, यह तो वह नहीं है, यह तो नया ही कुछ है। और तब हम उस पर मुग्ध हो जाते हैं। कोई-कोई चमत्कृत हो जाना भी कहेंगे। किन्तु चमत्कार और मोहन में अन्तर है। चित्त चमत्कारी वस्तु और मनोमुग्धकारी वस्तु में रूपगत एकता तो सम्भवतः हो, भावनागत भिन्नता होती है। रूप-सौन्दर्य से चमत्कार ही केवल आ सकता है, प्राणों की सुन्दरता में मोहकता और मुग्धकारिता है। जैसे रूप की रानी नटी और भावों की ऐश्वर्यमयी नारी में आकाश-पाताल का अन्तर है। यहाँ जब हम मुग्ध करने की बात कहते हैं, तो हमारा आशय यह है कि उन उपादानों में लेखक की अपनी विशिष्टता, दुनिया और जीवन को देखने की उसकी मौलिक अन्तर्दृष्टि, उसके मन का निजी आवेदन हमारे अन्तरतम की चेतना को छूता है। तब

हम रचना में एक व्यक्ति से परिचित होते हैं। व्यक्ति के इस परिचय में एक प्रकार का आध्यात्मिक संतोष होता है, जिसमें वस्तु-उपादान, युक्ति-तर्क का बखेड़ा ही नहीं रहता। यह व्यक्ति अहं का प्रकाश होते हुए भी अहंनिरपेक्ष होता है—जनक की तरह देही होते हुए भी विदेह होता है, संसारी होते हुए भी संन्यासी-सा होता है। इसीलिए काव्य को ही सर्वोत्तम ज्ञान-योग कहा जा सकता है। इसलिए साहित्य से ऐसे वैयक्तिक आवेदन को, ऐसे व्यक्तिगत सुर को हर्गिज हटाया नहीं जा सकता। इसका साहित्य मे स्थान है, ऐसा कहना भी उचित न होगा—कहना होगा कि यही साहित्य का प्राण है। उपादान तो साहित्य का सार्वजनिक दान है, आकार व्यक्तिगत और वही साहित्य का सर्वस्व है। †

सैद्धान्तिक तौर पर साहित्य में व्यक्तित्व के इस दिग्विजय को उसके प्रतापी पदक्षेप को स्वीकार नहीं करते। लेकिन यों पूछिए तो ऐसे लोग भी मौलिकता को ही रचना की श्रेष्ठता कहते हैं। साहित्य की यह मौलिकता रचनाकार के व्यक्तित्व के सिवाय और कौन-सी वस्तु है? वस्तु चिर-परिचित, भाव चिर-कालीन और सब की निधि है। उनके द्वारा लेखक नया क्या दे सकता है? फलस्वरूप वस्तुओं की

---

† दि सब्जेक्ट मे बी ऑव सच ए नेचर ऐज़ टु बी ऐक्सेसिबुल ऐंड वेल नोन टु एवरीबडी, बट दि फॉर्म इन व्हिच दे आर एक्सपाऊंडेड, व्हाट हैज़ बीन थॉट एबाउट देम् गिव्स दि बुक इट्स वैल्यु ऐंड दिस डिपेंड्स अपौन दि ऑथर।

नवीन योजना, वस्तुओं पर निजस्व मनन-चिन्तन की छाप ही मौलिकता है। उसी छाप द्वारा किसी रचना को पढ़कर हम पाते हैं कि यह सब-कुछ अभूतपूर्व है, इसमें नवीन दृष्टिकोण, नवीन चिन्तन है। इस रचना के सिवाय यह अन्यत्र दुर्लभ है, यह विशेषता महज़ यहीं है, इसी में है। रचना की इस विशिष्टता को लोग शैली, स्टाइल या अन्य ऐसे समानार्थक शब्दों से जानते हैं। रचना को जीवन और महत्व रचना-प्रणाली ही दे सकती है। यह रचना-प्रणाली उपर्युक्त रचना के आकार का एक अंग है।

आप कहेंगे, तब तो हम विषय के बजाय वस्तु-विधान यानी ग्रन्थन सौष्ठव को ही साहित्य कह रहे हैं। किन्तु फॉर्म से मात्र मालाकारिता का अभिप्राय हर्गिज नहीं। तथ्य, तत्त्व अथवा ऐतिहासिक सत्यों को एक क्रम से पिरोनेवाले हमारी समझ में साहित्यिक श्रमिक हैं। ग्रन्थन-सौष्ठव लाने की उनकी कुशलता, उनका अध्यवसाय, उनका धीरज, सब-कुछ सराहनीय है; किन्तु वे स्रष्टा नहीं हो सकते, क्योंकि उनमें 'महाजनो येन गतः सः पंथा' की अनुकरण-वृत्ति के अतिरिक्त निजी दान की महिमा नहीं होती। वे ऐसा कुछ अपना दान नहीं देते, जिसमें उनकी अन्तर्दृष्टि का युगान्तरकारी जादू हो, जिस जादू से दुनिया को नयी दृष्टि, नया पथ, नूतन प्राणों का आवेग मिले। यह तो साहित्यकार ही कर सकता है, स्रष्टा ही कर सकता है। वह जो आन्तरिकता का मन्त्रदान देता है, उससे मानवेतिहास में युग-वसन्त का आविर्भाव होता है, मनुष्य की ध्यान-धारणा में युगान्तर उपस्थित होता है। इसलिए रूप और आकार कहने से हमें समझना चाहिए

कि तथाकथित रीति ही सब-कुछ नहीं है। रचना का रूप कहने से रूप और रस के समन्वित स्वरूप का बोध होता है, जिसमें काव्य की वस्तु और काव्य की आकृति दोनों एकरस हो जाते हैं। उसमें लेखक की मानसिक शक्ति के उत्कर्ष द्वारा रचना की गंभीरता और मौलिकता आती है और उसकी व्यक्तिगत सत्ता का महिमान्वित स्वरूप प्रकाशित होता है। रचना का यह रूप वस्तु-निरपेक्ष नहीं होता। किन्तु लेखक की स्वाधीन चिन्ता-धारा में घुल कर वस्तु एक नया रूप ले लेती है और लेखक की, रचनाकार की नवीन दृष्टि के आलोक में समुद्भासित वस्तु ही रचना का रूप या फॉर्म है। रचना में लेखक की अपनी चिन्तनशैली की ही मौलिकता होती है, परन्तु चिन्तन का आधार वस्तु ही है। रचना का रूप कहने से वस्तु के आनन्द-रूप, रस-रूप का बोध होता है। जिस रचना में वस्तु की ही प्रधानता हो, वह हकीकत में रचना नहीं। जिसमें वस्तु और विधान दोनों की मुख्यता प्रकट हो, वह रचना तो है; पर साधारण श्रेणी की। किन्तु जिस रचना में उपादान और आकार दोनों एकाकार होकर रस-रूप हो जाते हैं, वही रचना उत्तम है। यह उत्तमता लेखक के व्यक्तित्व की सिद्धि होती है। रचना के रूप का यह स्वरूप विषय-सापेक्ष होकर भी विषय-निरपेक्ष एक विशिष्ट वस्तु है—यह तत्त्व नहीं, तत्त्वों का सार सत्य है; भाव नहीं, भावों का गहनतम प्रकाश है; यह सौन्दर्य-मंडित मुखड़ा नहीं, सुन्दर मुखड़े का लावण्य है; यह सुगठित आकृति नहीं, बल्कि आकृति की जीवन-कान्ति है।

कला आत्मा की अभिव्यक्ति है।* बाहरी दुनिया का प्रभाव जब हृदय को बाहर आने की आकुलता से विवश करता है, तो रचना रूप लेती है। यह रचना आत्म-प्रकाश है। † बाहरी दुनिया के जड़ उपादान द्वारा रचनाकार की शाश्वत चित्-शक्ति ही बाहर फूट पड़ती है। इसीलिए संसार के स्वरूप को ही काव्य के रस-रूप में पाकर हम आनन्दित हुआ करते हैं। मसलन पंत की ये पंक्तियाँ देखिए :

नीले नभ के शतदल पर
वह बैठी शारदहासिनी,
मृदु करतल पर शशिमुख धर
नीरव, अनिमिष एकाकिनी! अथवा

मेघैर्मेदुरम्बरं वन भुवः श्यामास्तमालैः द्रुमैः।

. एक में शारदीय शोभा और दूसरे में वर्षा की सुषमा है। आए दिन हम इन दृश्यों को इन चर्म-चक्षुओं से प्रत्यक्ष देखते ही रहते हैं; किन्तु उस देखने में कवि-वर्णित रस का संचार नहीं होता, गोकि इस वर्णन में हमारे परिचित शब्द भी हैं, संज्ञा, विशेषण और क्रिया का संयोग है। हम चाहें तो उन शब्दों के अन्य अनेक पर्यायवाची शब्द अभिधान से ढूँढ़ सकते हैं, किन्तु देखते हैं कि उन्हीं शब्दों में ये साधारण दृश्य कुछ असाधारण हो उठे हैं। इसका एक मात्र कारण रचना का रूप या अभिव्यक्ति है। इस अभिव्यक्ति का आधार ध्वनि

---

* इन आर्ट, मैन रिवील्स हिम-सेल्फ। ('व्हाट इज़ आर्ट')

† आल आर्ट इज़ एन एक्सप्रेशन।—क्रोचे

है। यहाँ शब्दों का सिर्फ अर्थ ही प्रधान नहीं है, रचना की आत्मा ध्वनि की काया में बोल उठी है। यही वाक्-ब्रह्म है, इसी को हम वाणी या सरस्वती कहते हैं। पुराने विचारकों ने रसात्मक वाक्य को काव्य कहा है, किन्तु हम रसान्वेषण के बजाय रीति और ध्वनि-देह के बजाय व्याकरण की कसौटी पर वाक्यों की नाप-जोख करके ही सन्तुष्ट हो लेते हैं। अतएव हमारा यह तात्पर्य तो कदापि नहीं कि शब्द-योजना की कुशलता, अलंकार-सन्निवेश की सामर्थ्य ही काव्य-कला है। हम यह कहना चाहते हैं कि वाणी का यह रस-रूप ही काव्य है, जिसमें भाव, अर्थ, आकार, युक्ति सब समाहित होकर एक हो जाते हैं। आकाश की कोई सीमा नहीं, किन्तु हमारी आँखों की शक्ति सीमित है। इसलिए जहाँ जाकर आँखें और आगे नहीं जा पातीं, वहीं हमें नील चँदोवे-सा तना आकाश दिखायी पड़ता है। वाणी भी जब अपनी शक्ति के शेष सीमाविन्दु पर जा पहुँचती है, जहाँ से और आगे जाना असंभव है, वहीं उसका प्रकाश काव्य हो उठता है और उसी सीमा में वह असीम रूप पाता है।

पाखी जबे उड़े जाय आकाशेर पाने
मने करे एनू बुझि पृथिवी त्यजिया
जत उड़े, जत उड़े, जत उर्द्ध जाय
किछुते पृथिवी तबू पारे ना छाड़िते
अवशेषे श्रान्त देहे नीड़े फिरे आसे।*—रवीन्द्र

---

* पक्षी जब आकाश में उड़ जाता है, तो सोचता है कि शायद मैं

यहीं असीम सीमा को प्यार कर लेता है—इसी को हम कहेंगे कि व्यक्ति में समग्र का प्रकाश फूट उठता है। अपनी आत्मा की पूर्णतया उपलब्धि में सीमित 'मैं' का लोप हो जाता है, तब वह उपलब्धि व्यक्ति की नहीं, जीवन के खंड की नहीं, बल्कि समग्र मानव-सत्ता की उपलब्धि है। तब एक व्यक्ति में अनेक व्यक्ति, आत्म-जगत् में जगत्, रूप में समग्रता एकाकार और निर्विकार हो उठती है। रचना में मैटर के हिमायती काडवेल ने व्यक्ति की ऐसी आत्मोपलब्धि को सहधर्मियों के साथ भागवत मिलन (इमोशनल कम्यूनियन विथ हिज फेलोमैन) कहा है। उन्होंने कला को आत्मोपलब्धि की दशा माना है और यह भी माना है कि वही (कला) मनुष्य की विशिष्ट वास्तविकता है।* हम जिस बात को सीधी तौर से स्वीकार कर लेते हैं, यानी व्यक्तित्व के प्रभाव को साहित्य में अस्वीकार नहीं कर सकते, उसे ही काडवेल साहब ज़रा पेचीदे ढंग से इस प्रकार स्वीकार करते हैं कि "जब बुर्जुआ कवि यह सोचते हैं कि अन्तरतम में कला की सीमा में पहुँचकर वे अपने 'अहं' को व्यक्त करते हैं तथा वास्तविकता से दूर भागते हैं, तब वास्तव

पृथ्वी को पार कर आया। किन्तु जितना ही वह उड़ता है, जितना ही ऊपर जाता है, देखता है कि पृथ्वी छूट नहीं सकी। फिर वह थककर अपने घोसले में जा बैठता है।

* दिस आर्ट इज़ वन ऑव दि कंडीशन्स ऑव मन्स रियलाइ-जेशन ऑव हिम-सेल्फ, ऐंड इन इट्स टर्न इज़ वन आव दि रियलिटीज़ ऑव मैन।

में वे बुद्धि पर आधारित यथार्थ सामाजिक सत्ता को छोड़कर भावों के आश्रित सामान्य सत्ता के सामाजिक संसार में पहुँचते हैं"† अर्थात् व्यक्ति की सीमित विशिष्ट सत्ता व्यापक हो उठती है।

व्यक्ति-मात्र में सत्य का एक अखंड विश्व-रूप है और साथ ही एक उसका निजी रूप है। यह निजी रूप उसका अपना विशेष धर्म होता है। मनुष्य के इस धर्म को हम मनुष्यता कहते हैं। ज्वाला जैसे अग्नि का धर्म है, वैसे ही मनुष्यता मानव का धर्म है। मनुष्य में यह धर्म उसकी आन्तरिक सृष्टि-शक्ति में ही सन्निहित है। इसी निजत्व के कारण, इसी स्वधर्म के चलते समग्रता में वैचित्र्य का निर्वाह है। शतदल की पँखुड़ियाँ अलग-अलग होती हैं किन्तु शतदल की एकरूपता में सब एकाकार हैं। साहित्य की सृष्टि में आनन्द की अखंड परिपूर्णता की ही सिद्धि होती है, पर निजत्व की साधना स्पष्ट होती है। रचनाओं में एक ही विषय पर युग-युग से बहुत-से लोगों की साधना चलती रही हैं, लेकिन जब सच्चे साधक के वाणीमंत्र से फिर वही विषय अभिसिंचित होता है, तो हम आनन्दाभिभूत हो जाते हैं। हमें लगता है कि बात तो वही है, किन्तु इसका यह प्रकाश अभूतपूर्व है, सर्वथा नवीन है।

---

† हेन्स व्हेन दि वोर्जुइज पोएट सपोजेज दैट ही एक्सप्रेसेज इनडिविडुएलिटी ऐंड फ्लाइज फ्राम रीयलिटी बाइ इंटरिंग इन टु ए वर्ल्ड ऑव आर्ट इन हिज इनमोस्ट सोल, ही इज इन फैक्ट मेयरली पासिंग फ्रॉम दि सोशल वर्ल्ड ऑव रैशनल रीयलिटी टु दि सोशल वर्ल्ड ऑव इमोशनल कामननेस।

इसी प्रकाश में व्यक्ति का धर्म है, जिस धर्म में विश्व-रूप भी है। वाल्मीकि, व्यास, रवीन्द्र एक ही सत्य के द्रष्टा रहे हैं, एक ही अखंड रूप के स्रष्टा रहे हैं; लेकिन दृष्टि-दर्पण में उनकी विशिष्टता है। यह नहीं होता, तो एक के अनन्तर दूसरे रचनाकार की प्रतिष्ठा नहीं होती, उपयोगिता नहीं होती। अगर उपादानों पर ही रचना का आनन्द निर्भर करता होता, तो काव्य के सारे उपादान नेहायत पुराने, ज्ञानगत एवं रसहीन हो उठे हैं। गेटे ने तो उपादानो के आधार को एकबारगी सारहीन कहा है। उसके मतानुसार कवि का अन्तरतम ही उसका सर्वस्व है, उसकी अन्तरात्मा ही काव्य-सामग्री का अक्षय भंडार है।† बात एकांगी-सी लगती है। किन्तु गेटे इन पंक्तियों द्वारा व्यक्तित्व के प्रकाश की प्रधानता ही दिखाना चाहता था। कवि का जो अन्तरतम है, वह बाह्य जगत् को अपने भावों के अनुरूप बनाकर ही प्रकाशित होता है। अन्तरतम कहने से ही उसमें उपादानों का होना स्वयंसिद्ध है।

जीवनधर्मी कविता के समर्थक मैथ्यु आर्नल्ड ने भी कविता के दो अनिवार्य गुणों का समर्थन किया है—एक सार सत्य (सब्सटेंस ऑव ट्रुथ) और दूसरा काव्य-प्रभाव (पोएटिक सीरियसनेस)। यह काव्य-प्रभाव कवि की उसी आत्म-चेतना का दान है, जिसे हम व्यक्तित्व के रूप में कहते आ रहे हैं। उसने उसकी (सीरियसनेस) व्याख्या की है—'दी हाई सीरियसनेस व्हिच कम्स फ्रॉम एब्सोल्युट सीन्सियरिटी।'

† एफिसियेंटली प्रोवाइडेड फ्रॉम विदिन, दी हैज़ नीड ऑव लिट्ल फ्रॉम बिदाउट।

अर्थात् कवि की गहरी अनुभूति अथवा आत्मीयता से उद्भूत होने वाली प्रभावोत्पादकता। इस गुण के बिना काव्यत्व नहीं आता और व्यक्तित्व के बिना यह गुण भी नहीं आता।

पन्द्रहवीं सदी में यूरोपीय साहित्य में जीवन-दर्शन की भावना से क्रान्ति की लहर आयी। उसी युग में फ्रांस में एक कवि पैदा हुआ विलन। आलोचकों की राय में विलन की कविताओं में नवीन भाव-धारा ने अँगड़ाई ली और पुरानी भावधारा ने अन्तिम साँस ली। गोकि विलन साहित्य के इतिहास में बड़े विचित्र शब्दों मे याद किया गया है कि 'वह फ्रांस का अन्यतम कवि तथा साहित्य के इतिहास मे सबसे बड़ा दुष्ट व्यक्ति था।' किन्तु उसकी कृतियों को मैथ्यु आर्नल्ड ने चासर की कृतियों से बहुत ऊपर स्थान दिया है। उसकी कृतियों की यह श्रेष्ठता उसकी नयी दृष्टि से है। अपने जीवन की गहराई में डूबकर उसने रचना की। उसकी कृतियों में वह स्वयं सजीव और मूर्त हो उठा है। उसके आलोचक की राय है, उसने अपनी अन्तरात्मा को देखा और लिखा; उसका जीवन ही उसकी रचना का आधार है। †

यहाँ विलन के उल्लेख से हमारा एक विशेष अभिप्राय है। विलन ने गीति-कविताएँ लिखी हैं। साहित्य में गीति-कविता व्यक्ति-भावना के लिए अधिक श्रद्धा की वस्तु हो उठी है। इस कोटि की कविताओं

† इट इज़ फ्रॉम दि कंटेम्प्लेशन ऑव हिज़ ओन एक्सपीरियेंस दैट दि पोएट स्पीक्स....ही लुक्ड इन हिज़ हार्ट ऐंड रोट, ऐंड हिज़ लाइफ़ इज़ दि थीम अव हिज़ राइटिंग।

में 'ग्रहं' की गन्ध और तीखी हो उठती है, इसलिए कि इसमें जगत् और जीवन आधारभूत होते हुए भी गौण रहते हैं, कवि का 'मैं' उन सबसे ऊपर हावी रहता है। लोग कविता में इस 'मैं' के ऊपर जगत् और जीवन को महिमान्वित देखना चाहते हैं, जो प्रबंध काव्य की विशेषता है। इसलिए व्यक्ति-बोध की महिमा से मंडित कविता को आज के काव्यलोचन में आदर का स्थान नहीं दिया जाता। आलोचक प्रवर आचार्य रामचद्र शुक्ल ने इसी एकांगी धारणा से अमर गीतकार सूरदास को वैसा महत्व का स्थान नहीं दिया, गोकि उन्हीं की मान्यता अन्तिम सिद्धान्त नहीं। गीति-कविता की भावना अन्तर्मुखी होती है अवश्य; किन्तु जब वह अपनी शेष सीमा पर पहुँच जाती है, तो उसी व्यक्ति-भावना में युग-युग का सर्वव्यापी सत्य साकार हो जाता है। तब तुच्छ विराट्, क्षुद्र महान, खंड पूर्ण हो जाता है। जड़ और आत्म-चेतना के इस संघर्ष में जब वाह्य जगत् आत्मवत् हो जाता है, तो समग्र के अंश-रूप में वह भी अखण्ड और पूर्ण हो जाता है। स्वसत्ता की यही परिपूर्णता' आत्मोपलब्धि है, इसको ब्रह्मानन्द-सहोदर कहते हैं। काव्य का यही साधारणीकरण है। भावना की इसी सीमा पर सब्जेक्ट और आब्जेक्ट का हेतु है, एक और अनेक का संगम है। यहाँ लघु 'मैं' नित्य नवीन रूप में प्रकाशशील मैं का अंग हो जाता है, यही मिलन की अवस्था अद्वैत स्थिति है—समग्र में अपनी व्याप्ति अथवा अपने में समग्र की प्राप्ति है।

चेये चारिदिक-पाने
कि ये जेगे उठे प्राणे।

तोमार आमार असीम-मिलन
येन गो सकल खाने ।†

साहित्य में 'मैं' के अखंड प्रकाश एवं व्यापक रूप पर संक्षेप से यहाँ विचार प्रकट किये गये हैं। साहित्य में यह 'मैं' विचारणीय है। जो लोग सैद्धान्तिक तौर पर साहित्य में इसे विषपान कराना चाहते हैं, उन्हें ज्ञात होगा कि साहित्य को यह विष पीकर नीलकण्ठ भी नहीं बनना है, वह मीरा की तरह निर्विकार ही रह जायगा। साहित्य में इस व्यक्तिगत सुर का अजेय और अनिवार्य स्थान है। साहित्य में प्रथम पुरुष (मैं) की प्रधानता से अनेक अमर रचनाएँ हुई हैं। आत्म-कथा, स्मृति-संस्मरण, व्यक्तिगत प्रबन्ध व्यक्ति की अपनी अभिज्ञताओं से ही रसमय और मूल्यवान हैं। अपने अस्तित्व की पुष्टता के लिए साहित्य को वैचित्र्य के ऐश्वर्य के लिए भी इन्हें अंगीभूत करना है। उपन्यासों में भी प्रथम पुरुष का दान बहुत बड़ा है। व्यक्तिगत रस-प्रबन्धों की उपयोगिता तथा आनन्द-दान की शक्ति दोनों ही अपराजेय हैं। ऐसे ग्रन्थों की आलोचना या उदाहरण से प्रबन्ध का विस्तार बढ़ाना अभीष्ट नहीं। एक और अन्तिम बात यह कह लेने दें कि इस व्यक्तिगत सुर की साधना की चरम सार्थकता तब होती है, जब व्यक्ति की क्षुद्र परिधि समग्र मानव-सत्ता की सीमा में विस्तृत होती है।

---

† चारों ओर देखकर क्या तो प्राणों में जगता है। वास्तव में सभी स्थान में तुम्हारा-मेरा असीम मिलन घटित होता है।

कला और जीवन का योग-सूत्र

प्रसिद्ध चित्रकार रैफेल ने एक स्थान पर लिखा है—"सत्य की खोज में जब लोग मन्दिर में गये, तो पुजारिन ने उन्हें पीने के लिये एक प्रकार की मदिरा दी। वह मदिरा किसी को मीठी, किसी को कड़वी तथा किसी को बड़ी तीखी लगी। मदिरा वही थी; किन्तु उसका स्वाद भिन्न-भिन्न था। इसी प्रकार कला की किसी भी वस्तु का मूल्य आँकने में मतभेद पाया जाता है।"

रैफेल की यह बात सिर्फ कला-कृति या कला-वस्तु पर ही नहीं लागू होती, कला पर भी लागू होती है। कला का उद्देश्य क्या हो, यह प्रश्न आज भी उत्तर की दृष्टि से निर्विवाद नहीं हो सका है। साधारणतया कला पर दो प्रकार के मतवाद प्रचलित हैं। एक मत उनलोगों का है, जो कला को उपयोगिता की कसौटी पर कसते हैं। टाल्सटाय, लेनिन, महात्मा गांधी, रवीन्द्रनाथ आदि कला उसे मानते रहे हैं, जिससे जीवन का उत्कर्ष-साधन हो; जो अन्धकार से आलोक, मृत्यु से अमृत की ओर ले चले। गांधीजी का कहना है—"कला से जीवन का महत्त्व है। जीवन में वास्तविक पूर्णता प्राप्त करना ही कला है। यदि कला जीवन को सुमार्ग पर न लाये, तो वह कला क्या हुई?" ऋषि टाल्सटाय कह गये हैं—"कला समभाव के प्रचार द्वारा विश्व को एक करने का साधन है।"† दो प्रमुख राष्ट्रों का नेतृत्व-भार कन्धे

---

† आर्ट इज़ ए मीन्स ऑव युनियन एमंग मेन, जॉयनिंग देम इन दि सेम फीलिंग।

पर होने के कारण लेनिन और गांधी ने कला को रोटी के बाँट पर तौला है। महात्माजी कला की उपयोगिता चाहते हैं; किन्तु उसके आध्यात्मिक महत्त्व से उन्हें इनकार नहीं। * किन्तु लेनिन को कला की आध्यात्मिकता पर कतई विश्वास न था, गोकि कला के प्रभाव को उन्होंने जीवन में प्रतिक्षण अनुभव किया।† खैर, कला के उद्देश्य को केवल उपयोगिता की कसौटी पर कसनेवाले लोगों की श्रेणी में कम लोग नहीं हैं।

दूसरा मत 'कला कला के लिए' है। इस श्रेणी में भी बहुतेरे विद्वान् हैं, जो संसार के प्रख्यात मनीषियों में गिने जाते हैं। श्री रोमा

---

* "मनुष्य-समाज की आध्यात्मिक और आचार-सम्बन्धी उन्नति के लिए कला का अस्तित्व वांछनीय—आवश्यक—है।"

† संगीत को लेनिन कला का सबसे अधिक रहस्यमय और प्रभावोत्पादक रूप मानते थे। यहाँ तक कि उसकी लहरियों से वे विचलित हो जाते थे और अपने कान मोम से बन्द कर लेते थे। वे चित्रकला के प्रभाव को भी अस्वीकार नहीं कर सके। सन् १६०५ की क्रान्ति में लेनिन को एक मित्र ने एक एलबम (चित्राधार) उपहार दिया था। उसमें कुशल शिल्पियों की कला के नमूने देख उन्हों ने कहा था—"कला का क्षेत्र भी कितना चमत्कार-पूर्ण है।....खेद है, मैं इसका कुछ भी ज्ञान प्राप्त न कर सका।" और सन् १६१८ में उन्होंने चित्रकला से बोल्शेविज्म के प्रचार का आदेश दिया था।

रोलाँ का कथन है—"कलाकार स्रष्टा है। वह सृष्टि के बीज बखेरता चलता है। उसका काम सिर्फ बोना है। फल का विचार करना या विचार कर बीज लगाना न तो उसके लिए सम्भव है और न उसका काम ही।" मनीषि सी० टी० विंचेस्टर साहब इसके विरोधी हैं। उन्होंने आस्कर वाइल्ड, इब्सन तथा ऐसे ही 'कला कला के लिए' के साधकों की निन्दा की है। उनका कहना है—"सुनीति-संगत प्रवृत्ति ही मानव-जीवन की मूल भित्ति है। मानव का ऐसा कोई भी अनुष्ठान नहीं, जिसमें नैतिक प्रभाव विद्यमान न हो।"† अस्तु, प्रस्तुत प्रबन्ध में इस विवाद का निराकरण अभीष्ट नहीं। यहाँ हमें इस बात पर विचार करना है कि कला और जीवन का योग-सूत्र क्या है, और इसमें हम कला से कला-विशेष—चित्र या संगीत—का नहीं, बल्कि ललित-कला मात्र का तात्पर्य लेंगे।

विचारकों के कथनानुसार कला हमारे प्रयोजन से परे है, अर्थात् कला के बिना भी हम जी सकते हैं। किन्तु हमारे जीवन के लिए

---

† ऐट दि वेरी फ़ाउंडेशन ऑव कैरेक्टर लाइ दि मोरल इन्टेन्शन्स ऐट दि फाउंडेशन ऑव ऐनी स्कीम ऑव ह्यूमैन ऐक्शन्स, दि मोरल लॉज। दि सेंटीमेंट ऑव ड्यूटी इज़ युनिवर्सल, एब्सोल्युट। डिसओबिडियेन्स टु इट ब्रिंग्स इनएविटेबली डलनेस ऑव प्रिसेप्शन ऐंड वीकनेस ऑव परपस ऐंड एंड्स एटलास्ट इन रूइन।

—सम प्रिंसिपुल ऑव क्रिटिसिज्म।

जो कुछ प्रयोजनीय हैं—जैसे आहार, वस्त्र, निद्रा, मैथुन—उनके अभाव में हमारी जीवन-यात्रा में असुविधा ही नहीं होती, बल्कि हम जी नहीं सकते। इसलिए रोटी पहले है। कला पेट भरने के बाद मनोविनोद के लिये हो तो भी, न हो तो भी कोई हर्ज नहीं। जीवन के लिये वह अनिवार्य नहीं।† किन्तु यही वास्तविक बात नहीं। मरने तक किसी तरह जी जाना ही जीवन का उद्देश्य नहीं। फिर जीने की सिर्फ यही परिभाषा रखी जाय, तो वह किसी प्रकार भी उचित न होगी। तब तो धर्म की भी जीवन में कोई आवश्यकता नहीं, गोकि धर्मप्रवण होना आदमी का स्वभाव है, धर्म है। वह धर्म के बिना रह नहीं सकता।* धर्माचरण के बिना भी आदमी जी सकता है। आज दिन धर्मानुवर्त्तिता भी नियमबद्ध हो गयी है। दिन भर की कर्म-क्लान्ति से ऊबकर लोग मनबहलाव के लिए जिस प्रकार सिनेमा-

† "टु लिव, ऐंड टु काउज़ टु लिव, टु इट फुड ऐंड टु बिगेट चिल्ड्रेन, दीज़ आर दि प्राइमरी वांट्स ऑव मेन इन द पास्ट, ऐंड दे विल बी दि प्राइमरी वांट्स ऑव मेन इन फ्युचर... अदर थिंग्स मे बी ऐडेड टु ऐनरिच ऐंड ब्यूटीफाई ह्यूमैन लाइफ बट अनलेस दीज़ वांट्स आर फर्स्ट सैटिसफाइड ह्यूमैनिटी इट्सेल्फ मस्ट सीज टु एक्ज़िस्ट"।—दि गोल्डेन बो

* ह्यूमैन बींग इज़ नेचरली रिलीज़स टु थिंक मीन्स टु कन्टेलेट गॉड। दि मोर वन थिंक्स, दि मोर वन फील्स वनसेल्फ इन दि प्रेज़ेंस ऑव गॉड।—फासीज़्म ऐंड कल्चर

थियेटर जाते हैं, उसी प्रकार निश्चित दिन गिरजा, मन्दिर या मस्जिद भी हो आते हैं। जो कुछ भी हो, धर्म का मानव-समाज में महत्त्व-पूर्ण स्थान है। मनुष्य ने धर्म की कल्पना और उसके पालन में ही जीवन की महत्ता समझ रखी है। धर्म हमारे जीवन के लिए आवश्यक है। वह हमारे नित्य-कर्म में परिगणित है। किन्तु उसमें हमारी प्रवृत्तिक दासता की ताड़ना नहीं, वह हमारे जीवन के उच्चादर्श का प्रमुख साधन है, कल्याण का आश्रय-स्थल है। खाकर हम जी ही सकते हैं, जीवन के सत्य की उपलब्धि, आनन्द की प्राप्ति नहीं कर सकते और न मरकर जी ही सकते हैं। धर्म-साधना जीवन के अमृत-स्रोत के उद्भव का कारण है और कला-साधना जीवन के इसी उत्कर्ष की प्रधान सहायिका।

प्रश्न हो सकता है कि कला और धर्म का प्रकृत सादृश्य कहाँ है? इसके उत्तर में हम इतना ही कहेंगे कि धर्म और कला के उद्देश्यों में मूलतः कोई विरोध नहीं। व्यापक रूप से देखा जाय, तो धर्म और साहित्य (कला) दोनों का एक ही काम है—जीवन में सत्य की उपलब्धि। बल्कि प्रभाव की दृष्टि से साहित्य-कला धर्म-साधना से एक कदम आगे है। इतना अवश्य है कि धर्म में जो गम्भीरता है, वह साहित्य में नहीं, साथ ही साहित्य की व्यापकता धर्म में नहीं। धर्म और कला उसी परिमाण में अधिक सफल समझे जाते हैं, जिस परि-माण में उनसे सत्य की प्रतिष्ठा हो पाती है। सत्य की प्रतिष्ठा और सत्य की चर्चा दोनों एक ही वस्तु नहीं। सत्य को ज्ञान की सीमा में ले आना सत्य-चर्चा है। दर्शन और विवेचन से नहीं होता है। १

ये दोनों युक्ति और तर्क से सत्य का विश्लेषण करते हैं। धर्म और विज्ञान के मूल में तर्कमूलक विश्लेषण-प्रवृत्ति काम करती है, जिसका मूल मस्तिष्क है। साहित्य या कला जीवन में वास्तव तत्त्व अर्थात् सत्य की चर्चा नहीं, प्रतिष्ठा करती है। साहित्य सौन्दर्यानुभूति है, इसलिए यह हृदय का व्यापार है! ज्ञान रूपहीन तत्त्व को स्थापित करने का आधार नहीं पाता और साहित्य का मूलाधार सौन्दर्य है, जिसका मूलमन्त्र जड़ द्वारा चेतन को और मूर्त्त द्वारा अमूर्त्त को व्यक्त करना है। तत्त्व की प्रतिष्ठा के लिए रूप आवश्यक है, जिसमें आधारित होकर रूपहीन मूर्त्तिमन्त हो सके। कला इसीलिए रूप-साधना है, इसीलिए उसके द्वारा सत्य की प्रतिष्ठा हो सकती है।

कला में सत्योपलब्धि का रूप सार्वभौम, सार्वदेशिक होता है। उसमें भाषा के व्यवधान के अतिरिक्त सत्य को किसी सत्य-विशेष में बाँधकर नहीं रखा जा सकता। इसके द्वारा सभी देशों के सत्य से प्राणों का संयोग होता है। इसलिए धर्म से साहित्य-कला की सत्यानुभूति विशेष व्यापक होती है। कला संसार के सौन्दर्य को आत्मसात् कर विश्व-जन के लिए उसे वितरण करती है। धार्मिक आचरण की संकीर्ण सीमा में सत्य को खण्डित कर धर्म की तरह वह बाँध नहीं देती। वाणी की देवी विश्व-कंठ में एक अखण्ड सत्य के स्वर की सुमधुर झङ्कार भरती है। सच्चा साहित्य प्रधानतः दो प्रकार के आनंद का अनुसन्धान करता है; एक सृष्टि का आनन्द और दूसरा विस्तार या व्यापकता का आनन्द। सत्योपलब्धि अगर आनन्दहीन होती, तो साहित्य-सृष्टि की चेष्टा परिलक्षित नहीं होती, इसीलिए प्रकृत साहित्य

में अध्यात्म-चेतना की दीप्ति स्वभावतया प्रस्फुटित होती है। धर्म जहाँ ज्ञान-आहरण करता है, कला वहाँ प्रेम का प्रचार करती है। धर्म में बुद्धि दखल देती है और साहित्य में भावना। ऋषि टाल्स-टाय ने इसीलिए कला की व्यापकता से विश्व-मैत्री की आशा की है। उन्होंने कहा है—"कला को बुद्धि द्वारा भाव की ओर अग्रसर होकर विश्व-मानव को एक करना होगा; प्रचलित पद्धति और अत्याचार-समूह का नाश कर संसार में भगवान का राज्य, प्रेम का राज्य स्थापित करना होगा—यही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है।"

धर्म का विषय तत्व-ज्ञान है और ज्ञान का विषय प्रकाश है। जिस धर्म के द्वारा आत्मा अपने को या अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करती है, वही ज्ञान है। लेकिन साहित्य का, कला का विषय रस है, जो अनुभूति की वस्तु है। आत्मा जिस वस्तु के द्वारा समग्र वस्तुसत्ता से आनन्द आहरण करती है, वही वस्तु रस कहलाती है। साहित्य सत्य को सत्य-स्वरूप नहीं देखता, वह उसे रस-रूप बना लेता है और सत्य को रस-रूप बनाने के लिए उसे मूर्त्त करना पड़ता है। जो प्रत्यक्ष है, उसी पर प्रेम होना स्वाभाविक है। परोक्ष के प्रति प्रेम का उद्रेक नहीं हो सकता। जहाँ हम परोक्ष से रसानुभूति ग्रहण करते हैं, वहाँ भी परोक्ष को मन में प्रत्यक्ष कर लेते हैं! ऐसा न हो, तो वह विषय हमारी ज्ञान-वृद्धि का कारण हो सकता है, उससे रसानुभूति नहीं हो सकती। रसानुभूति के लिए ही हम साहित्य द्वारा सत्य को रूप में लाते हैं। जैसे, सर्वत्र ईश्वर की सत्ता का अनुभव करना हमारा ऊँचा ज्ञान हो सकता है, उससे रसानुभूति नहीं होती। किन्तु जब रवीन्द्रनाथ कहते हैं:—

सुन्दर, तुमि एसेछिले आज प्राते
अरुण वरण पारिजात लये हाते ।
निद्रित पुरी, पथिक छिलोना पथे,
एका चलि गेले तोमार सोनार रथे,
बारेक थामिया, मोर वातायन पाने
चेयेछिले तव करुण नयन पाते ।†

तो हमारी रसानुभूति गहरी हो उठती है। इस तरह वह सर्वव्यापी सुन्दर हमारे सामने प्रत्यक्ष रूप में जीवन्त हो उठता है। उसे पाने के लिये एक परिपूर्ण वातावरण, पृष्ठभूमि तैयार की गयी है, जो हमारे जीवन से निकटतर है। धर्मभावना में महत्त्व की जो दूरी, उसके रूप की जो छवि उपयुक्त आधार का अभाव पाती है, कला में वह बात नहीं। यहाँ उसे रूपायित कर हम रस-रूप बना लेते हैं और आनन्द के रूप में ग्रहण करते हैं—ज्ञान-रूप में नहीं। रस और आनन्द समानार्थक भी व्यवहृत होते हैं। रस और आनन्द दोनों आस्वादनीय हैं और उपनिषद् की वाणी में अनन्त सत्य को, चिरन्तन सत्य को रस कहा गया है—अर्थात् वह रस है, हम उसी रस को ग्रहण कर आनन्द पाते हैं।

---

† हे सुन्दर, आज प्रभात में तुम हाथ में अरुण पारिजात लिये आये थे। सारी नगरी निद्रा-मग्न थी। राह में कोई राही न था। तुम अपने सोने के रथ पर अकेले चले गये। एक बार, सिर्फ एक बार रुककर करुणा-भरी दृष्टि से तुमने मेरे वातायन की ओर देखा था।

धर्म ने जहाँ सत्य को ज्ञानगत के अतिरिक्त करतलगत करना चाहा, उसकी प्रतिष्ठा करनी चाही, उसे कलाधर्मी होना पड़ा। यानी उसे भी उसके रस-रूप, आनन्द-रूप की सृष्टि करनी पड़ी। वास्तव में ज्ञान की तर्कमूलक प्रवृत्ति में तादात्म्य भाव नहीं आ सकता। इसीलिए धर्म में भक्ति की अवतारणा हुई, सौन्दर्य की उपासना अर्थात् रस-साधना की प्रवृत्ति हुई। सत्य की उपलब्धि मनुष्य जीवन में तीन प्रकार के अनुष्ठानों से कर सकता है—सत्य की उपासना, शिव की उपासना और सुन्दर की उपासना। किन्तु सुन्दर की उपासना में प्रेम-भावना की प्रधानता होती है, जो तादात्म्य का सबसे बड़ा, सबसे सरल साधन है। सन्त साधकों ने धर्म-साधना में सुन्दर की उपासना शुरू की। जीवन में सत्य और शुभ का आचरण चाहे जितना किया जाय, लक्ष्य की प्राप्ति विलम्ब से होती है। वैष्णव कवियों ने इसीलिए सत्य को चिर और चरम सुन्दर का रूप दिया और नारी के रूप में उनके चरणों में प्रेम का अर्घ्य निवेदन किया। सूफी साधकों ने भी सुन्दर की आराधना की। चण्डीदास ने गाया—

बन्धु, तुमि जे आमार प्राण
देह मन आदि तोमारे सोंपेछि
कुल शील जाति मान।†

यह तादात्म्य भाव वस्तुतः नारी भाव में ही सम्भव है। नारी ही

---

† प्यारे, तुम जो मेरे प्राण हो। मैंने देह, मन, कुल, शील, जाति, मान—सब कुछ तुम्हें अर्पित कर दिया है।

पति के लिए अपने गोत्र तक का त्याग कर उसमें सम्पूर्णतया एकाकार हो सकती है। इसीलिए उस पावन राज्य में जाने के लिए नारी-भावना ही सर्वोत्तम उपाय है। न्यूमैन साहब ने एक स्थान पर लिखा है—"यदि तुम्हारी आत्मा उच्च धर्मराज्य की पवित्र सीमा में प्रवेश करना चाहती हो, तो उसे नारी-रूप में ही जाना पड़ेगा। मानव-समाज में पुरुषाकार का तुम्हें कितना ही गर्व क्यों न हो, उस राज्य में जाने के लिए नारी-रूप के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं।" कबीर जैसे ज्ञानी ने अपने को ईश्वर की नारी माना है।†

अभी तक धर्म से कला-साधना की विशेषता दिखाते हुए हम उसकी प्रयोजनीयता सिद्ध करने की कोशिश कर रहे थे; किन्तु इससे हमारा मूल विषय स्पष्ट रूप से प्रतिपादित नहीं हुआ। अतः हम उसे और स्पष्ट करने की कोशिश करेंगे। आपके मन में स्वभावतया यह प्रश्न उठ सकता है कि अन्य वस्तुओं से हमारे कर्म-जीवन में जिस उद्देश्य की पूर्त्ति होती है, कला उसमें किस हद तक क्या सहायता पहुँचाती है, अथवा कला-साधना से जीवन के किस उद्देश्य की पूर्त्ति होती है?

संसार में जिन वस्तुओं से हमारा प्रयोजन का सम्बन्ध है, कला के द्वारा उन्हीं वस्तुओं से हमारे आनन्द का सम्बन्ध भी स्थापित होता है।

---

† दुलहिन गावहु मङ्गलचार,
हम घर आये हो राजा राम भतार।
—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ८७

क्षुधा-निवृत्ति के लिए भोजन से पुष्टि-साधन के उपरान्त हम स्वाद का भी अतिरिक्त लाभ उठाते हैं। इसी तरह जीवन के प्रत्येक स्तर में हमारा सौन्दर्यबोध हमें प्राकृतिक नियमों की दासता की कटुता को आनन्द में परिणत कर देता है। केवल कर्मों का बोझ लादकर जीवन चल नहीं सकता। आनन्द के सहारे उसे उपभोग करने योग्य बनाना भी आवश्यक होता है। कला-साधना से जीवन में हम आवश्यकता के अतिरिक्त आनन्द पाते हैं, और यह आनन्द हमारे प्रयोजनों से कम प्रयोजनीय नहीं। यों हमारे प्रयोजन और आनन्द का स्थान दूर-दूर दीखता है; किन्तु इनका सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि अब हम आनन्द के बाहर प्रयोजन को नहीं देख सकते और न प्रयोजन के बाहर आनन्द को ही देख सकते हैं।

दूसरी बात रही जीवन के लक्ष्य में कला का स्थान, उसकी उपादेयता। अब हमें अलग-अलग यह देखना है कि कला क्या है और हमारे जीवन का लक्ष्य क्या है? आत्माभिव्यक्ति मानव का चिरन्तन स्वभाव है। बर्क ने कहा है—"आत्म प्रकाश की भावना ही हर प्रकार की कला का मूल है।" अपने को बहुतों में प्रतिष्ठित करने के लिए मानव निरन्तर विकल है। उसकी प्रत्येक चेष्टा इसी उद्देश्य पर दृश्य या अदृश्य रूप से नियोजित है। मानव का यह स्वभाव क्यों है, इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता। उपनिषद् में एक स्थान पर आया है, ब्रह्म तपस्या करने लगे। उस तपस्या के कारण जिस ताप का संचार हुआ, उसी के प्रभाव से उन्होंने विश्व की सृष्टि की। फलतः हम देखते हैं कि ब्रह्म ने जो आत्म-प्रकाश किया, उसमें

दो प्रधान बातें हैं; एक तो स्वाधीनता का आनन्द और दूसरा तपस्या का संयम। मानवीय कला-सृष्टि अर्थात् आत्माभिव्यक्ति में इन्हीं दो बातों की प्रधानता है—यानी मुक्ति का आनन्द भी है और साधना का संयम भी।

सृष्टि ब्रह्म की कला है और कला मानव की सृष्टि है। ब्रह्म को सृष्टि का भोजन–जैसा कोई खास प्रयोजन नहीं था। किन्तु अकेले में आनंद की उपलब्धि नहीं होती, इसीलिए उसने एक से अपने को बहुतों में बाँटा। इस तरह हम कह सकते हैं कि सृष्टि ईश्वर का प्राचुर्य है। कला भी ठीक उसी तरह मनुष्यों के प्राचुर्य का प्रकाश है। अपने प्राचुर्य के प्रभाव से ही मानव अपने को अभिव्यक्त करता है। जिन वस्तुओं का उसे अपने लिए विशेष प्रयोजन है, केवल उतने ही से उसकी तृप्ति नहीं होती है। वह अपने को बहुतों में, क्षुद्र को विराट् में प्रतिष्ठित देखना चाहता है। उसकी यह आन्तरिक आकांक्षा उसकी कला-साधना का मूल है। रवीन्द्रनाथ ने लिखा है—"मानव अपने को पूर्ण स्वरूप में मिला देना चाहता है। उस मिलन में स्वाधीनता का जो आनन्द है, मानव उसीके अनुसंन्धान में घूम रहा है। कला मानव-जीवन के सम्पद को ही व्यक्त करती है। कला की यह साधना स्वतः फलप्रसु है; इस साधना में ही सिद्धि का आनन्द निहित है।"

हम ऊपर कह आये हैं कि सत्य की उपलब्धि ही कला का उद्देश्य है, और मानव-जीवन का भी लक्ष्य केवल जीकर मर जाना नहीं, जीवन में सत्य की प्रतिष्ठा करना है। सत्य क्या है? छान्दोग्य उपनिषद्

में ऋषिपुत्र ने प्रवहमान से यही प्रश्न किया था। प्रवहमान ने उत्तर दिया था —'एकमात्र सत्य ईश्वर है।' किन्तु यह सत्य विश्व में सर्वत्र प्रतीयमान है। विश्व में, विश्ववासियों में ही विश्वेश्वर का वास है। यहाँ प्रतिनियत जो कुछ प्रतिभांत हो रहा है, वह सब उस सत्य-रूप, आनन्द-रूप, अमृत-रूप का आभास है। कला द्वारा हम जिस सुन्दर की उपासना करते हैं, वह वही चिरन्तन सत्य है, जीवन की चिर-वांछित वस्तु है। सुन्दर वही हो सकता है, जिसमें चेतन, अमूर्त्त के भाव की विजय हो। ब्रह्म इसीलिए सबसे बढ़कर सुन्दर है, क्योंकि वह चेतन है, अमूर्त्त है, भावमय है। इसीलिए सुन्दर का मङ्गल और सत्य से कोई अन्तर नहीं, कोई विरोध नहीं।

कला अपूर्ण मानव की पूर्णता-प्राप्ति की साधना है, क्षुद्र से महान् के मिलन की पावन गीति है। कला की साधना प्रतिदिन मानव को उसके चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर कर रही है। यह असीम को सीमा में, महान् को क्षुद्र में आबद्ध कर सकती है; विस्तार को संकीर्णता में रख सकती है। श्रीमती महादेवी वर्मा कहती हैं :—

''मेरी छोटी सीमा मे अपना अस्तित्व मिला दो!"

या कबीर का :—

"नैनों की करि कोठरी, पुतली पलँग बिछाय।
पलकों का चिक डारिकै, पिय को लिया रिझाय"

यह तादात्म्य भाव कला के क्षेत्र में ही सम्भव है। दार्शनिक तो असीम और ससीम, सान्त और अनन्त की गुत्थी ठीक-ठीक सुलझा भी नहीं पाए हैं। जहाँ दार्शनिक यह कहते हैं कि असीम प्रत्यक्ष नहीं

है, इसलिए यथार्थ जगत् में उसका कोई अस्तित्व नहीं, वहाँ रवीन्द्रनाथ यह कहते हैं— 'सीमार माझे असीम तुमि।" न्यूटन के आकर्षणवाद के अनुसार जिस प्रकार संसार की सभी छोटी-बड़ी वस्तुओं की स्थिति पारस्परिक आकर्षण से है, उसी तरह रवीन्द्रनाथ यह बताते हैं कि रूप भाव में, भाव रूप में, सीमा असीम में और असीम सीमा में अपने को खो देना चाहता है।† मनुष्य (जीवात्मा) ईश्वर (परमात्मा) की महत्ता में खो जाने को विकल, ईश्वर अनगिनत क्षुद्रों में अपने को व्यक्त करने को आतुर हैं।

किन्तु कला सृष्टि की आधार-वस्तु नितान्त लौकिक है। इसमें परमात्मा के मिलन का उद्देश्य साधित हो, यह एक विचित्र-सी बात है। विचित्र हो; लेकिन यह सत्य है और स्पष्ट भी। विश्वनियन्ता का कोई राजमहल नहीं, वह विश्व में ही है। ईश्वर का प्रेम मानव-अन्तर में ही सीमाबद्ध है और कला की साधना से हम मानव-प्रेम, विश्व-प्रेम की स्थापना करते हैं। विश्व के मानव-मात्र में उस विश्वात्मा का स्वरूप देखना, उसके प्रेम को आहरण करना ही मानव-धर्म है। इसी मानव-धर्म के पालन से हमारे जीवन की सार्थकता है। इसीसे आत्मा का परमात्मा से परम मिलन होता है। जीवन

---

† भाव पेते चाय रूपेर माझारे अङ्ग,
रूप पेते चाय भावेर माझारे छाड़ा।
असीम, से चाहे सीमार निविड़ सङ्ग,
सीमा हते चाय असीमेर माझे हारा।

के इसी चरम लक्ष्य की सिद्धि में, इसी उद्देश्य की प्राप्ति में कला से हमारे जीवन का योग है। यह योग-सूत्र बहुत सूक्ष्म है; किन्तु इसकी प्रयोजनीयता से इसकी अविच्छिन्नता स्पष्ट प्रमाणित होती है।

इसी मिलनातुरता पर श्रीमती महादेवी वर्मा ने गाया है—

"विरह का जलजात जीवन, विरह का जलजात।" *

परमात्मा पूर्णता के विरह में ही यह जीवन-रूपी कमल खिला है, और उस प्रेमी आह्वान पर ही आत्मा की जो सुरभि निकलती है, वही कला है। वास्तव में हम अनन्त को जान लेते हैं, उस दिन हम स्वयं सान्त नहीं रह जाते, अनन्त हो जाते हैं।† इसीको वेदान्त में कहा गया है—"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।" ब्रह्म सत्य स्वरूप, ज्ञान-स्वरूप अनन्त है। कला-साधना इसी अनन्त की प्राप्ति का अभियान है—वह अनन्त, जिस पर संसार की सभी सत्ताएँ आश्रित हैं, जो सभी ज्ञान का आधार है और जो अनन्त देश-काल-व्यापी है। कला की उपासना हमें उस अखण्ड सत्ता की ओर लिये जा रही है, जो सत्य है, शिव है, सुन्दर है। कला जीवन-पुष्प की वह सुवास है, जिससे लोगों में, विस्तार में व्यक्ति की प्रतिष्ठा होती है और व्यक्ति विस्तार में अपनत्व का आरोप कर धन्य होती है। यही कला है और जीवन में उसकी यही सार्थकता।

---

* आमार भीतरे जे आछे से गो कोन विरहिणी नारी।

—रवीन्द्रनाथ

† जब गुरु था तब हम नहीं, अब गुरु हैं हम नाहिं।
प्रेम गली अति साँकरी, तामें दो न समाहिं॥ —कबीर

'बुक ऑव दि आवर' से भी तात्कालिक प्रयोजन की सिद्धि होती है। जैसे साहित्य से अन्य देशों का कल्याण-साधन होता रहा है, अपने यहाँ वैसा साहित्य है ही नहीं, यह कोई नहीं कह सकता। अब भी जिनमें विदेशी आईने में मुँह देखने की मनोवृत्ति रह गयी है, महज वैसे ही लोग यह कहते मिलेंगे कि अपने यहाँ वाल्तेयर ह्यूगो-जैसे युग-स्रष्टा कलाकार कहाँ हैं, गोर्की-जैसा क्रांतिका अग्रदूत कौन है? आदि-आदि। आप विश्वास कीजिए, ऐसे लोग अपने साहित्य से जान-पहचान कम रखते हैं। जैसी कृतियाँ विश्व-साहित्य की सभा में आदर का स्थान पाती रही हैं, अपने साहित्य में उसके समकक्ष कृतियों का अकाल नहीं पड़ा है। हाँ, उनका यह दुर्भाग्य अवश्य है कि वे हम-जैसे गुणग्राहकों के बीच हैं। मिसाल के तौर पर एक बात लीजिए। अमरीका की लेखिका पर्ल बक को उसकी पुस्तक पर नोबेल-पुरस्कार मिला। उस पुस्तक में उसने चीनी जीवन के जीते-जागते चित्र दिए हैं, मुंशी प्रेमचंद ने भारतीय ग्रामीण जीवन के चित्रण में अद्भुत पर्यवेक्षण-शक्ति तथा अभिव्यक्ति की कुशलता का परिचय दिया है। शरच्चन्द्र की साधना से साहित्य में नारी-हृदय की जिन गोपन दिशाओं का उद्घाटन हुआ है, वह कुछ कम कलात्मक और महत्त्वपूर्ण नहीं। काव्य में 'निराला' के प्रयोग, महादेवी की साधना कुछ कम नहीं। किंतु उनकी साहित्यिक तपस्या को हम महज इसलिए तुच्छ और प्रभाव शून्य मानने लगे हैं; क्योंकि उन्हें नोबेल-पुरस्कार नहीं मिला। बचा-ए-सक्का को भी कभी काबुल की गद्दी मिल गयी थी और अमानुल्ला को वंचित होना पड़ा था। इससे क्या होता है? इस तरह यदि हम देखें,

तो पायँगे कि साहित्य में भावों की जिस आग, आँधी और पानी से रूसो, ह्यूगो और गोर्की ने जन-जीवन की धारा बदल दी, युग-निर्माण किया, वह अपने साहित्य में भी है। अंतर केवल इतना है कि उनको आग्रहशील पाठकों का समुदाय मिला, इन कृतियों को इसका अभाव रहा।

सही बात तो यह है कि केवल सृष्टि में ही साहित्य की सार्थकता नहीं होती, उसकी सिद्धि का क्षेत्र तो पाठक-समाज है, जिसमें उसकी शक्ति प्रत्यक्ष होती है। पाठक समाज जितना ही चेतना-संपन्न, जितना ही विशाल होगा, साहित्य की शक्ति उतनी ही दृढ़, कार्यकरी और व्यापक होगी। यों किसी राष्ट्र को सौभाग्य से अनेक महत् रचनाएँ मिल जायँ, यह और बात है; किन्तु उसके उत्थान के लिए अनेक रचनाओं की अनिवार्यता नहीं है, विशाल पाठक-समुदाय की है। शोपनहर ने बहुत ठीक कहा है कि पुस्तकों के नाम से कूड़ा-कतवार से भर देने से तो कहीं अच्छा था कि गिनी-चुनी कुछ ही कला-कृतियाँ होतीं ! इस सत्य को आप भी स्वीकार करेंगे कि देश को बहुत अधिक साहित्य-स्रष्टाओं की आवश्यकता नहीं होती, अधिक-से-अधिक संस्कार-सम्पन्न पाठक की अपेक्षा होती है। साहित्य-शिल्पी की जीवन-साधना तभी सफल हो सकती है, जब पाठकों की एक बड़ी संख्या हो और उनमें से एक-एक की ग्राहिका-शक्ति में जाग्रत जीवन-चेतना हो। आखिर साहित्यकार वह मज़दूर जादूगर तो है नहीं कि कृत्रिम कौशल से चौराहे पर खड़े होकर छूमंतर से एक्का को बेगम बना दे। साहित्यिक जो-कुछ भी गढ़ता है, अपने जीवन की तपस्या से गढ़ता है, और जब

गुणग्राही समुदाय उसी महत्व के साथ उसे ग्रहण करता है, तब कहीं साहित्य की शक्ति फलती-फूलती है। यह तो संभव भी है कि किसी एक ही साहित्यकार के दान से देश का दामन भर जाय; किन्तु देश के लिए सब समय यह संभव नहीं होता कि वह एक प्रतिभा के दान को संपूर्णतया अपने में समाहित कर ले। यह तो हम मान लेंगे कि सब समय देश के सौभाग्य को बना सकने की क्षमता साहित्यकार में नहीं हो सकती; लेकिन अधिकतया साहित्य-शक्ति की निरर्थकता से देश को अभागा बना देनेवाला दोषी उसका पाठक-समाज ही हुआ करता है। रुचि की भिन्नता तो और बात है, पाठक में भी लेखक-जैसी सहृदयता होनी चाहिए। किसी रचना से हम आनन्दित अथवा प्रभावित इसलिए हुआ करते हैं कि उसमें वर्णित विषय, वस्तु या भाव हमारे हृदय में भी वर्त्तमान होते हैं, जैसा कि कालिदास ने कहा है:—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनबोध पूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तर सौहृदानि।

इतना होते हुए भी उन सुप्त भावों का उद्बोधन साहित्य में जिस रीति के माध्यम से होता है, वह आसान नहीं। वह है रस की प्रतीति। यह रस की प्रतीति गायक और श्रोता, कवि और पाठक, अभिनेता और दर्शक की तदाकारता होती है। जब तक दोनों की रस-दृष्टि का सामंजस्य नहीं होता, रस की सिद्धि हो ही नहीं सकती। चाँद स्वच्छ आकाश में हँसता है; किन्तु उसको देखकर कुमुदिनी ही खिल पड़ती है,

सागर ही उमड़ता है, चकोर ही तड़पता है ! संपूर्ण चराचर में एक ही आवेग का संचार नहीं होता। पावस की श्याम घटाएँ सुरम्य तो संभवतः सबके लिए हों, पर उन्हें देखकर मोर ही नृत्य-पागल होता है, जिसके मन के किसी कोने में राधा का मन है, उसीकी नैन-यमुना छलकती है, चातक ही रट लगाता है। इसलिए कि दोनों की हार्दिकता का किसी केन्द्र पर मेल है। उल्फत के कच्चे धागे की तरह एक को दूसरा किसी अलक्षित कारण से खींचता है। लेखक-पाठक की इसी हार्दिकता के संयोग में साहित्य की शक्ति खिल सकती है। स्रष्टा का काम बीज बोना है, परिणाम तो भूमि की उर्वरता पर निर्भर करता है। प्रत्येक मनुष्य में सौंदर्य का, सगीत का, स्वर्ग का एक खंड राज्य होता है। साहित्यकार की प्रतिभा केवल उनके द्वार को खोल देती है। इसलिए जब जाति को ऐसी कोई प्रतिभा मिल जाय, तो प्रत्येक व्यक्ति को सजग और सावधान हो जाना चाहिए। पता नहीं, अपनी असावधानता से कितनी अमूल्य प्रतिभाओं का विनाश करके देश स्वयं अपना सौभाग्य-सिंदूर धो लेने का महापाप करता है।

साहित्य-शक्ति को संपूर्णतया सार्थक करने का सारा श्रेय एक प्रकार से पाठकों का ही है। पाठक कहने से हमारा तात्पर्य ऐसे पढ़नेवालों से है, जो रचना के अंतर्निहित रस और सुषमा में तल्लीन होकर उसी रूप में उसे अपना सके, जिस रूप में रचनाकार ने उसकी प्रयोजना की हो। यदि आप कालिदास को समझना चाहते हैं, तो आप को कालिदास की स्थिति में आना होगा। जब तक स्रष्टा और द्रष्टा की अनुभूति, रस-दृष्टि एक धरातल पर आकर एकाकार नहीं हो जाती, तब

तक रस आनन्द के आकार में परिवर्त्तित नहीं हो पाता। इसलिए पाठक होने में एक योग्यता अपेक्षित है, हर कोई उस योग्यता का अधिकारी नहीं होता। साहित्य-शास्त्रियों ने पाठकों की इस योग्यता का नाम दिया है रसिकता या सहृदयता। रचना के रस में रमने की योग्यता ही पाठक में उस संवेदनशीलता का समावेश करती है, जिससे लेखक लिखने को अभिप्रेरित होता है। यह या तो कवि-प्रतिभा के समान किसी-किसी का जन्मजात संस्कार-सी होती है, या अभ्यास और अनुशीलन से प्राप्त होती है। लिखने में लेखक की निविड़ आत्म-तल्लीनता योग की स्थिति में उपस्थित होती है, रस-आहरण में पाठक की आत्म-तल्लीनता भी उसी की अनुगामिनी होती है। अभिनव गुप्ताचार्य ने इसे यों कहा है :—

> येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्
> विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीय तन्मयीभवन
> योग्यता ते हृदयसंवादभागः सहृदयः।

ऐसे लोग सहृदय कहलाते हैं। कई प्राचीन विद्वानों ने तो इसे भी एक ईश्वरदत्त प्रतिभा माना है, जैसा कि कवियों के बारे में माना गया है। चेष्टा से कोई कवि नहीं हो सकता और न कोई कवि प्रयास से काव्य-रचना कर सकता है। पाठकों के बारे में भी उनकी यही राय है कि उनकी यह संस्कारिता जन्म-जात ही होती है। किन्तु यह बात जँचती नहीं। कवि के लिए तो हम उसे मान लेते हैं, पाठकों का, जहाँ तक हमारा ख्याल है, निर्माण किया जा सकता है, उनमें रुचि और काव्यानन्द-प्राप्ति की संस्कारिता उत्पन्न की जा सकती है। जो

हो, हमारा अभिप्राय यह है कि पाठक का कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व बहुत बड़ा है, और यही कारण है कि समर्थ साहित्यकार को या तो पाठकों का निर्माण करना पड़ता है या भवभूति के समान अपनी कृति को काल के भरोसे छोड़कर संतोष करना पड़ता है। यहाँ साहित्य की शक्ति पंगु हो जाती है और उसका अपव्यय हुआ करता है। अरस्तू के टीकाकार ने स्पष्टतया स्वीकार किया है कि किसी भी प्रकार की चारु-कला ऐसे द्रष्टा या श्रोता के सामने आत्म-निवेदन करती है, जो शिक्षित समाज के अंग होते हैं एवं जिनकी रुचि परिष्कृत होती है। जैसे नैतिक शक्ति-संपन्न व्यक्ति नीतिशास्त्र का अधिकारी होता है, वैसे ही संस्कार-संपन्न पाठक उस कला का अधिकारी होता है।

शब्द और अर्थ का समुचित समन्वय साहित्य है, और शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में ही साहित्य की शक्ति निहित रहती है। सृजनी-शक्ति के जिम्मे शब्दार्थ के संयोग से शक्ति का संचय करना रहता है। किन्तु पाठकों का उत्तरदायित्व शब्दार्थ द्वारा उस शक्ति का प्रत्यक्षी-करण एवं प्रेरणा-प्रवणता है। पाठक के आधार से ही उस शक्ति का प्रसार और सक्रियता अवलंबित है। आंतरिक भाव-भूमि को साहित्य में रूप और जीवनमय बनाने के लिए शब्दों के प्रयोग में एक विशिष्टता होती है। प्रयोग की विशिष्टता से अर्थ का भी रूपांतर होता है। रस अर्थात् काव्य का लक्ष्य तो अर्थ में होता है। अर्थ ही वास्तव में काव्य का सार है। इसी अर्थ के अनुसार शब्द की शक्ति हुआ करती है। कोरा पाठक होने से काव्य-प्रयुक्त शब्द-शक्ति की ठीक-ठीक प्रतीति नहीं की जा सकती। शब्द के वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य, ये तीन

अर्थ हो जाते हैं। वाच्य शब्द का सीधा अर्थ है। लक्ष्य से शब्द के प्रयोग का तात्पर्य समझा जाता है और व्यंग्य, जो काव्य का सर्वापेक्षा व्यापक अंग है, जरा पेचीदा होता है। आदमी दौड़ता है, यह बात तो साधारणतया समझ में आती है; किंतु जब यह कहा जाता है कि 'वह सर पर पैर रखकर भागा' तो इस अटपटी बात की तुक नहीं मिलती। सर पर पैर रखकर क्या भागना? किंतु इसमें एक विशेष अर्थ है और ऐसी युक्ति का सहारा लिए बिना साहित्य का काम नहीं चल सकता। पैरों से दौड़ने की जो शक्ति है, उसकी एक हद है। किंतु सर पर पैर रखकर भागने में भागने वाले की उस अव्यक्त व्यग्रता को वाणी-रूप दिया गया है। साहित्य को ऐसे न जाने कितने इंगित, अभ्यास और अलंकार-रूपक से काम लेना पड़ता है, कहा नहीं जा सकता। और इन शब्दों द्वारा रस-प्रतीति की प्रक्रिया भी बाँकी है। काव्य-पाठ के समय लिपिबद्ध ध्वनियाँ आँखों में आती हैं, साथ ही उसकी शब्दात्मकता मन के कानों में मँडराने लगती है। जब कोई इन शब्दों का उच्चारण करता है, तो उसकी क्रियाशीलता का अनुभव भी इसमें सम्मिलित होता है। इस प्रकार जो भावना अनुभूत होती है उसमें कल्पना की चित्रात्मकता यानी रूपमय कल्पना और पूर्वापर संस्कार जाग्रत होता है और तब मन में भावों का आंदोलन उपस्थित होता है, इसी से कोई काव्य-रस का आस्वादन कर पाता है। आस्वादन की इस प्रक्रिया को देखकर आस्वादनकारी 'कोई' कैसा आदमी हो सकता है, यह सहज ही अनुमेय है। हम एक दिन में पाँच ग्रंथों के [illegible] से पढ़ जाया करें और केवल वाच्यार्थ-भर से मतलब हो तो

साहित्य-शक्ति की उपादेयता हमारे लिए क्या हो सकती है ? जब तक काव्य की ध्वनि, शब्दगत रूपमयता, रूपक और उपमाओं में उसकी व्यंजना ठीक-ठीक हृदयंगम नहीं होती, तब तक साहित्य की प्राण-वस्तु की पहचान हो नहीं सकती। ध्वनि-रूप आस्वादन के अतिरिक्त साहित्य-वस्तु की रूपगत विशिष्टिता भी दर्शनीय है। साहित्य में जो पात्र, चरित्र या चित्र आते हैं, वे जीवंत तो होते हैं; किंतु दृश्य-जगत् से उसको तुल्य नहीं माना जा सकता। साहित्य का जगत् एक अभिनव जगत् है। वह दृश्यमान संसार, अदृश्य कवि का अंतर्जगत्—इन दोनों के सम्मेलन का प्रकाश, एक तीसरा ही जगत् होता है। जब तक साहित्य का ससार न हो, तो उसे प्रतीयमान करके साहित्य का रसास्वादन कैसे किया जा सकता है ? फलतः हम देखते हैं कि पाठकों की भी एक योग्यता होनी चाहिए। होनी तो चाहिए, किंतु दुःख के साथ हमें स्वीकार करना पड़ता है कि यह योग्यता, यह संस्कार पाठकों में नहीं के बराबर है— कम-से-कम हमारे यहाँ। ऐसी दशा में अनधिकारी के हाथ में तोप ही दें, तो क्या होगा ? साहित्य की शक्ति का भी वैसा ही अपव्यय इसी कारण से आज तक होता रहा है।

साहित्यकारों के प्रति हमारी जागरूकता का अंत नहीं है। उनके उत्तरदायित्वों की बहुत बड़ी सूची हमने बना रखी है। उन्हें हम राष्ट्र के प्रति उनके महान् कर्त्तव्यों की रोज ही याद दिलाते हैं, उनकी समर्थता को उद्बोधित करते हैं, उनकी निष्क्रियता पर लानत-मलामत करते हैं। यह भी एक आवश्यक तत्परता है, वाजिब माँग है। पर हमारे साहित्य की मंथर गति, कृश काया तथा अकर्मण्यता में लेखकों

का जितना भी दोष चाहे हो, सबसे बड़ा दोष पाठकों का ही है। और दोष क्या दें, सच्चे पाठक ही नहीं के बराबर हैं। ऐसी दशा में साहित्य की समर्थता कैसे परखी जा सकती है? अथवा उसकी निरर्थकता का रोना रोकर ही क्या हो सकता है? सच पूछिए, तो पाठकों में साहित्य-पाठ की योग्यता लाने की नितांत आवश्यकता है। हथेली में बाल जमाना साहित्यकार का काम नहीं। अधिकारी पाठक हों और साहित्य नपुंसक साबित हो, तो शिकायत की गुंजाइश है। साहित्य की शक्ति से देश को लाभान्वित करने के लिए सबसे पहले लोगों में साहित्यिक चेतनता लाने की आवश्यकता है। विदेशों में जो साहित्य की आशातीत सार्थकता प्रत्यक्ष होती है, उसमें केवल समर्थ साहित्यकारों का श्रेय नहीं है। सबसे बड़ा सौभाग्य उन देशों का यह है कि वहाँ ज्यादा-से-ज्यादा आग्रहशील और साहित्यिक संस्कार-संपन्न पाठक हैं। सामूहिक और राष्ट्रीय तौर पर वहाँ साहित्य-निर्माण की भी चेष्टाएँ होती रहती हैं। हम साहित्य के प्रति मात्र साहित्य-साधक को ही उत्तरदायी मानकर पाठकों को उनकी जिम्मेदारी से बरी कर देते हैं। उसका जो परिणाम होना चाहिए, होता है। अपने यहाँ की साक्षरता का हिसाब-किताब हर किसी को मालूम है। यह भी मालूम है कि साक्षरों में हजार में से सम्भवतः दो-चार व्यक्ति साहित्यानुरागी हैं और साहित्यिक संस्कार-संपन्न तो उनमें से भी कुछ ही हैं। और इस पर तुर्रा यह है कि इन्हीं की गुदगुदी पर हम साहित्य के भाग्य का फैसला कर देते हैं! यदि यह कहें, तो अत्युक्ति न होगी कि शायद हमारे यहाँ लेखक ही पाठक से ज्यादा है। साहित्य में आज हम यह

आशा करने लगे हैं कि पाठक हों या न हों, उसकी शक्ति का चमत्कार तो अपेक्षित है ही। बिना दवा खाए ही गुण की उम्मीद की जाती है और साहित्य की प्रभावशून्यता की शिकायत की जाती है। जहाँ देखिए, कवि से आँसू के बदले आग की माँग है, क्रांति की तान की प्रयोजना पर जोर दिया जा रहा है; किन्तु जिसके माध्यम से साहित्य द्वारा क्रान्ति रूप ले सकती है, उस पाठक-समाज का पता ही नहीं! हम तो कहेंगे, समर्थ और स्वस्थ साहित्य तो आज भी है; किन्तु जिनके लिए वह है, वे कहाँ हैं? भावों की मदाकिनी तो बह रही है, उसके किनारे लोकालय नहीं है, स्नानोत्सव की विधि नहीं है, लोगों में उसकी शीतलता से लाभान्वित होने का आग्रह नहीं है।

प्राचीन भारत में ऐसी बात नहीं थी। उन दिनों साहित्य, शिल्प, संगीत को जीवन से आश्चर्यजनक रूप से जड़ित कर दिया गया था। उस समय एक नागरिक के लिए कला-ज्ञानी होना अनिवार्य माना जाता था। प्रत्येक घर कलाशाला थी। प्रत्येक व्यक्ति कला-विनोदी हुआ करता था। जो भी सामाजिक अनुष्ठान होते थे, जो भी सामूहिक उत्सव-समारोह हुआ करते थे, उन सब में साहित्य-संगीत की चर्चा होती थी। कविता-पाठ, समस्या-पूर्त्ति आदि ऐसी गोष्ठियों की खास बात थी कि अनधिकारी लोगों को ऐसे समाजों में सम्मिलित नहीं होने दिया जाता था। सहृदय, रसिक यानी अधिकारी आदमियों को ही ऐसी गोष्ठियों में प्रवेश पाने का सौभाग्य मिलता था। इसलिए हम पाते हैं कि प्राचीन ग्रन्थों में नाटकों के द्रष्टा, काव्य के पाठक इन सब की योग्यता का उल्लेख मिलता है। नाटक में,

शास्त्रीय संगीत-गोष्ठी में कैसे दर्शक-श्रोता चाहिए? कहा जाता है कि वही दर्शक हो सकता है, जिसकी इन्द्रियाँ सजग हों, जिसे उस विषय पर आलोचना करने की योग्यता हो, उसका अच्छा-बुरा समझ सके और सहृदय हो। जो संवेदनशील नहीं है, उसे नाट्य-शास्त्र में दर्शक की आख्या नहीं दी गयी है। जिसपर अभिनीत या वर्णित भावों का कोई प्रभाव न हो, वह रसिक क्या? उसे देखने-पढ़ने का अधिकार भी क्या है। कालिदास, हर्ष आदि ने अभिरूप भूयिष्ठा और गुणग्राहिणी परिषद की जो चर्चा की है, उसके अनुसार अनधिकारी दर्शक को प्रश्रय नहीं दिया गया है।

इन सब के बावजूद हम यह भी कहेंगे कि अपने यहाँ पाठक-निर्माण के लिए समुचित सामूहिक या राष्ट्रीय प्रयत्न नहीं हुआ है। इसीसे राष्ट्र को साहित्य की अक्षय संजीवनी शक्ति से वंचित रहना पड़ा है। साहित्य राष्ट्र की सर्वापेक्षा स्थायी और मूल्यवान संपत्ति है। राष्ट्र को चाहिए कि वह अपने भाव-कल्पतरु साहित्यकार को श्रद्धा और प्रेम से सींचे, जिससे उसके फल से सम्पूर्ण राष्ट्र लाभान्वित हो सके, विशाल पाठक-समुदाय तैयार करे। आज तो राष्ट्र की ओर से दोनों की उपेक्षा है! न तो वह वाणी के वरद पुत्रों को सामाजिक महत्व दे रहा है, न वीणापाणि के प्रसाद के वितरण की ठीक व्यवस्था कर रहा है। ईश्वर ने पहले अन्न वनस्पति की सृष्टि की, तब मनुष्य को बनाया। हमें साहित्य में पहले उस क्षेत्र को तैयार करना चाहिए, जहाँ वह फूले-फले। सजग साहित्यकार से आज जागरूक पाठक की आवश्यकता अधिक है। जब तक यह नहीं होगा, साहित्य की कालजयी शक्ति का अपव्यय ही होता रहेगा।

साहित्य और सहज भाषा

साहित्य से सहज भाषा की माँग बड़े जोरों से की जाने लगी है। वास्तव में यह माँग कुछ बुरी नहीं। जो लोग इस पर जोर दे रहे हैं, अवश्य ही वे सब प्रकार से साहित्य के शुभैषी ही होंगे। लेकिन साथ ही एक बात यह भी सोचने की है कि जो साहित्यकार साहित्य के जन्मदाता हैं, स्वयं वे ही उसका अशुभ कैसे चाह सकते हैं? उनके लिए तो साहित्य के शुभ का आग्रह ही स्वाभाविक है। अतः इससे हम यह विश्वास कर सकते हैं कि औरों की अपेक्षा साहित्यकार सहज भाषा के कुछ कम हिमायती नहीं होंगे।

रस और रूप

शब्दकोश और व्याकरण को सामने रख कर साधारणतया कोई साहित्य नहीं रचता। रीति, अलंकार या वक्रोक्ति के युग में शायद ऐसा होता हो। राजशेखर की 'काव्य-मीमांसा' में ऐसे ही कवियों का उल्लेख मिलता है, जो भाव और अर्थ की राई-रत्ती चिन्ता न करके केवल चुने हुए शब्दों की माला गूँथा करते थे और आचार्य शास्त्र तथा व्याकरण से उन शब्दों के जैसे-तैसे अर्थ और संगति प्रमाणित कर दिया करते थे। कहा जाता है, इस नियमित अभ्यास से आगे चलकर वैसे लोग कवि हो भी जाते थे। हो जाते होंगे कवि, किन्तु शास्त्र तो तब भी ऐसे बने कवि को कवि नहीं मानता था। कवि की प्रतिभा तब से अब तक जन्मजात ही मानी जाती रही है। अलबत्त अभ्यास और अनुशीलन से कवित्व-शक्ति का विकास हो सकता है।

जो हो, तब चाहे जो भी होता रहा हो. अब तो यह बात सिद्धान्त रूप में ग्रहण की जा चुकी है कि केवल शब्दों का कारुकार्य और कुछ हो सकता है, साहित्य नहीं हो सकता। रचना के दो ही प्रधान तत्त्व हैं—एक उसका रस, दूसरा उसका रूप। रूप के हिसाब से साहित्य में शैली का एक खास महत्व है। किन्तु शैली से हमारा अभिप्राय रीति अथवा शब्द-सौष्ठव, पद-योजना और वाक्य-विन्यास से ही नहीं है। अभिप्राय है भाव के उपयुक्त वाणी-रूप से, चिन्मय के वाङ्मय प्रकाश से। रस ही काव्य या साहित्य से कामना की वस्तु है, इसलिये रूप के आधार को निष्प्रयोजनीय नहीं कहा जा सकता। शराब और पैमाने की तरह साहित्य में आधारभूत और आधार का स्थान नहीं होता। किसी भी और कैसे भी पैमाने से आप शराब पी सकते हैं। शराब की उत्तमता के हिसाब से ही नशे की उत्तेजना होती है। पैमाने की सुन्दरता—असुन्दरता से रुचि में अन्तर चाहे आता हो, प्रभाव में विकृति नहीं आती। फिर पैमाना शराब से एकरस नहीं होता। पीने से वह निःशेष होता है, उसे फिर-फिर भरने की जरूरत पड़ती है। किन्तु जिस वाणी-रूप में रस आत्मप्रकाश करता है, वह उससे कभी विच्छिन्न नहीं होता। आप जितना ही भाषा के पैमाने से उसे पीते चले जायँ, वह बार बार छलकता ही आता है; क्योंकि जिस प्राणन-रूप में वह हृदय में सन्निविष्ट रहता है, वह स्थायी और कालान्तर व्यापी हुआ करता है। मूर्ति या चित्र में अंकित भाव की तरह साहित्य की प्राप्ति भी वह ग्रार भी अपने इसी रूप में निश्चित रहता है। बात यह है कि किसी भी जगत की विचारणा, किसी भी प्रकार का भाव जब तक हमारी चेतना

में रूप लेता है, तब तक वह वर्त्तमान और गतिशील होता है; वाक्य में रूप ग्रहण करते ही वह स्थिर और एकरूप हो जाता है। शापनहोर ने चिन्तन के साथ लेखनी का वही सम्बन्ध बताया है, जो सम्बन्ध भ्रमण से छड़ी का है। छड़ी न हो, तो अधिक स्वच्छन्दता से चला जा सकता है। उसी प्रकार यदि लेखनी न हो, तो चिन्तन-कार्य और सुगमता से चल सकता है। इसलिये भाव के वाणी-रूप में जो रस सिंचित होता है, वह न केवल स्थायी, वरन् अखण्ड होता है।

रूप और रस की इसी अखंडता और अविच्छिन्नता के लिये कला के अनेक प्रवाद-वाक्य प्रचलित हैं। कहना व्यर्थ होगा कि उसके यथार्थ अर्थ का आज तक अनर्थ ही होता रहा है, जैसे—कला के लिए कला। अपने कविता-विषयक सुप्रसिद्ध व्याख्यान में ब्रेडले ने यही कहा है। कहते हैं, कभी किसी ने रवि बाबू से किसी कविता का अर्थ पूछा, तो उन्होंने कहा—'इस कविता का अर्थ स्वयं यह कविता है।' उनके इस कहने से या 'कला के लिये कला' कहने से काव्य का लक्ष्य जीवन-निरपेक्ष नहीं हो जाता। इसका यथार्थ अर्थ तो यह है कि जिस भाषा-रूप में भाव बाहर आता है, उससे वह ऐसा संश्लिष्ट होता है कि उससे भिन्न उसकी व्याख्या नहीं हो सकती। उस अखण्डता में ही उसे देखा जा सकता है। शब्द और अर्थ जिस प्रकार पार्वती-परमेश्वर के समान एकीभूत हैं, भाव और भाषा भी वैसे ही अभेद्य हैं। इसीलिए पोप ने जब शैली को विचारों का परिधान कहा, तो कार्लाइल ने उसमें संशोधन किया कि नहीं, शैली परिधान नहीं, उसका त्वक है। कार्लाइल यों बनावटी भाषा का विरोधी रहा। भाषा के जिस कृत्रिम

इन्द्रजाल को लोग शैली या स्टाइल कहते हैं, उसको कार्लाइल ने साहित्य के लिए आवश्यक नहीं माना है। उसका कहना है, किसी ग्रंथ की अच्छाई-बुराई के लिए भाषा-शैली का कोई महत्व नहीं। इस भाषा-शैली से रीति के आडम्बर को ही समझना चाहिए; क्योंकि कृत्रिम भाषा शैली का अंग नहीं है। भाव को मूर्त्त और अगोचर को गोचर करने के लिए भाषा की जहां तक उपयुक्तता है, वह आवश्यक अंश वस्तुतः अलङ्कार नहीं। शरीर की सुन्दरता में लावण्य जैसा स्वाभाविक और अभिन्न है, भाव के रूप-विधान में अकृत्रिम शैली वैसी ही स्वाभाविक है, अलङ्कार उसके लिए एक अतिरिक्त और अनावश्यक भार है। कुरूप को गहनों से रूपवान नहीं बनाया जा सकता, और जिसके रूप है, गहना उसको बोझ ही होता है। साहित्य में सत्य जब प्राञ्जल हो उठता है, तो अलंकार उसके लिए बाधक ही नहीं, निरर्थक भी होता है। प्राञ्जलता का यथार्थ मर्म मार्मिकता है। यह मार्मिकता स्वतः अनुभूत हो सकती है, समझाई नहीं जा सकती। जैसे आग की बात लीजिए। उसकी जलन ऐसी है कि जो भी उसमें हाथ देगा, वह जलेगा। यह बात हमें किसी को समझानी नहीं पड़ती। भाव की प्राञ्जलता भी इतनी ही साफ होती है। उसका आवरण चाहे जटिल हो, चाहे सरल, भाव भावुक के हृदय को ठीक तरह छू लेता है। उसके इस प्रभाव के लिए किसी प्रकार की टीका-टिप्पणी की आवश्यकता पड़ती नहीं होती। इस मार्मिकता के लिए भाव को साधारण अलं-कार का आश्रय नहीं पकड़ना पड़ता। यह मार्मिकता सत्य की उप-लब्धि और सच्ची दार्शनिकता में ही सन्निहित हो सकती है। संस्कृत

काव्य में दिखाया गया है कि कृष्ण से मिलने के लिए राधा ने अपने गले का हार तक उतार फेंका। इसका मतलब यह है कि सत्य की उपलब्धि में अलङ्कार एक अनावश्यक आडम्बर ही नहीं, बाधा भी है। सत्य का प्रकाश स्वतः सहज सुन्दर होता है। जो सत्य को रूप दे सकता है, वह रीति और अलंकार का आडम्बर नहीं रखता। सत्य के सम्बन्ध में जिसकी दृष्टि धुँधली होती है, जिसका ज्ञान सन्दिग्ध होता है, वही अपने अन्तर की इस शून्यता को भरने के लिए, रचना में वस्तु के अभाव को भरने के लिए शब्दों का लम्बा सोपान तैयार करता है, प्राण की महिमा के बजाय शृंगार को ही लक्ष्य बनाता है। फलस्वरूप अपनी चिन्ताशीलता के दिखावे के लिए नयी टेकनीक और नयी शैली की आड़ लेकर वक्तव्यों को वाक्य के बोझों से ढँक देता है। अपनी विद्या-बुद्धि के अभाव को ही विद्या-बुद्धि का प्रभाव दिखाने के प्रबल मोह में ऐसे लोग न जाने भाषा की कैसी-कैसी कारीगरी करते हैं, अतः जो सही मानी में साहित्यकार हैं, वे जटिल भाषा के पक्षपाती नहीं हो सकते। जिन्हें वास्तव में कुछ वक्तव्य नहीं होता, वे ही श्लेष, विरोधाभास, असामंजस्य और जटिल शब्दावली से साहित्य के आवरण को जटिल बनाया करते हैं, इसलिए कि कुछ समझ नहीं पाने के कारण लोग यह समझेंगे कि इसमें भारी-भरकम कुछ है जरूर, जिसे कि हम नहीं समझ पाते। फलतः भाषा की क्लिष्टता न तो साहित्य का सौन्दर्य है, न साहित्यकार की साधना।

आत्मप्रकाश और सहज भाषा

सहज भाषा के लिए रचनाकार में आग्रह होने का एक प्रमाण

इन्द्रजाल को लोग शैली या स्टाइल कहते हैं, उसको कार्लाइल ने साहित्य के लिए आवश्यक नहीं माना है। उसका कहना है, किसी ग्रंथ की अच्छाई-बुराई के लिए भाषा-शैली का कोई महत्व नहीं। इस भाषा-शैली से रीति के आडम्बर को ही समझना चाहिए; क्योंकि कृत्रिम भाषा शैली का अंग नहीं है। भाव को मूर्त्त और अगोचर को गोचर करने के लिए भाषा की जहाँ तक उपयुक्तता है, वह आवश्यक अंश वस्तुतः अलङ्कार नहीं। शरीर की सुन्दरता में लावण्य जैसा स्वाभाविक और अभिन्न है, भाव के रूप-विधान में अकृत्रिम शैली वैसी ही स्वाभाविक है, अलङ्कार उसके लिए एक अतिरिक्त और अनावश्यक भार है। कुरूप को गहनों से रूपवान नहीं बनाया जा सकता, और जिसके रूप है, गहना उसको बोझ ही होता है। साहित्य में सत्य जब प्रांजल हो उठता है, तो अलंकार उसके लिए बाधक ही नहीं, निरर्थक भी होता है। प्रांजलता का यथार्थ मर्म मार्मिकता है। यह मार्मिकता स्वतः अनुभूत हो सकती है, समझाई नहीं जा सकती। जैसे आग की बात लीजिए। उसकी जलन ऐसी है कि जो भी उसमें हाथ देगा, वह जलेगा। यह बात हमें किसी को समझानी नहीं पड़ती। भाव की प्रांजलता भी इतनी ही साफ़ होती है। उसका आवरण चाहे जटिल हो, चाहे सरल, भाव भावुक के हृदय को बुरी तरह छू लेता है। उसके इस प्रभाव के लिए किसी प्रकार की टीका-टिप्पणी की आवश्यकता कदापि नहीं होती। इस मार्मिकता के लिए भाव को भाषागत अलंकार का आभरण नहीं पहनना पड़ता। यह मार्मिकता सत्य को उपलब्ध करने वाली हार्दिकता से ही समाविष्ट हो जाती है। वैष्णव

काव्य में दिखाया गया है कि कृष्ण से मिलने के लिए राधा ने अपने गले का हार तक उतार फेंका। इसका मतलब यह है कि सत्य की उपलब्धि में अलङ्कार एक अनावश्यक आडम्बर ही नहीं, बाधा भी है। सत्य का प्रकाश स्वतः सहज सुन्दर होता है। जो सत्य को रूप दे सकता है, वह रीति और अलंकार का आडम्बर नहीं रखता। सत्य के सम्बन्ध में जिसकी दृष्टि धुँधली होती है, जिसका ज्ञान सन्दिग्ध होता है, वही अपने अन्तर की इस शून्यता को भरने के लिए, रचना में वस्तु के अभाव को भरने के लिए शब्दों का लम्बा सोपान तैयार करता है, प्राण की महिमा के बजाय शृंगार को ही लक्ष्य बनाता है। फल-स्वरूप अपनी चिन्ताशीलता के दिखावे के लिए नयी टेक्नीक और नयी शैली की आड़ लेकर वक्तव्यों को वाक्य के बोझों से ढँक देता है। अपनी विद्या-बुद्धि के अभाव को ही विद्या-बुद्धि का प्रभाव दिखाने के प्रबल मोह में ऐसे लोग न जाने भाषा की कैसी-कैसी कारीगरी करते हैं, अतः जो सही मानी में साहित्यकार हैं, वे जटिल भाषा के पक्षपाती नहीं हो सकते। जिन्हें वास्तव में कुछ वक्तव्य नहीं होता, वे ही श्लेष, विरोधाभास, असामंजस्य और जटिल शब्दावली से साहित्य के आवरण को जटिल बनाया करते हैं, इसलिए कि कुछ समझ नहीं पाने के कारण लोग यह समझेंगे कि इसमें भारी-भरकम कुछ है जरूर, जिसे कि हम नहीं समझ पाते। फलतः भाषा की क्लिष्टता न तो साहित्य का सौन्दर्य है, न साहित्यकार की साधना।

आत्मप्रकाश और सहज भाषा

सहज भाषा के लिए रचनाकार में आग्रह होने का एक प्रमाण

मिलता है। रचना करने का तात्पर्य है देह की कारा से मुक्त होना। इसीलिए कला को आत्मप्रकाश कहा गया है। आत्मप्रकाश का मतलब ही है बहुतों में अपना प्रसार और प्रतिष्ठा। तुलसी ने जिस स्वान्तःसुख की चर्चा की है, उसका अर्थ अपने सुख-जैसी एक छोटी बात नहीं है। आत्मप्रकाश द्वारा अपने को जो सुख मिलता है, वह इस-लिए कि अपने 'स्व' को संकीर्ण सीमा से मुक्ति और समष्टि में विस्तृति मिलती है। 'मैं' की प्रतिष्ठा भी अपने-आपसे नहीं होती, बहुतों के बीच में उसे बिखरा देने से ही हो सकती है। इसलिए रचनाकार का स्वान्तःसुख चिड़ियों के गीत-जैसा उसी के लिए नहीं, उसका लक्ष्य समाज है। स्वयं तुलसी ने ही कहा है—'उपजहिं अनत, अनत सुख लहहीं।' व्यक्तिनिष्ठ साहित्य की भी मर्मवाणी यही होती है, देखने में आत्मकेन्द्रित भले ही हो। ऐसी रचनाओं का प्रथम पुरुष 'मैं' समग्र मानव-समाज, समस्त मानव-सत्ता के लिये ही अपने विस्तार की कामना करता है। यदि ऐसा नहीं हो, तो वैसी सृष्टि रवीन्द्र के शब्दों में अनासृष्टि ही होगी। रवीन्द्र ने रचना के हिसाब से सृष्टि की तीन कोटियाँ निर्द्धारित की हैं—सृष्टि, असृष्टि और अनासृष्टि। सृष्टि में अनेक 'मैं' उस 'एक' को देखता है, असृष्टि में अनेक 'मैं' अपने बिखरे हुए अनेकतत्व को देखता है और अनासृष्टि में प्रत्येक 'मैं' सबसे अलग अपने-आपको ही देखता है। इस दृष्टि से समाज सृष्टि है, भीड़ असृष्टि और रेलमपेल अनासृष्टि। व्यक्तिनिष्ठ साहित्य तभी साहित्य पदवाच्य होता है, जब उसका बीज-रूप 'मैं' समष्टि में अपनी शाखा-प्रशाखाएँ फैलाकर फल देता है। साहित्य-सृष्टि की दो प्रवृत्तियाँ देखी

जाती हैं—भावनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ। ठीक इसी प्रकार रचनाकार में दो प्रकार की दृष्टियाँ देखी जाती हैं—विषयनिष्ठ और विषयिनिष्ठ। सच्चा साहित्यकार हम उसे ही कहेंगे, जो एक सीमापर दोनो दृष्टियों का गंगा-सागर कर दे सकता है, जो वैयक्तिक भावनाओं को नैर्व्यैयक्तिक रूप दे सकता है। प्रतिभा के पुत्र ऐसा कर सकते हैं, बल्कि ऐसा ही करते हैं। वे अपने अन्तर के अनुभूत सत्य को न केवल बाहर प्रकट करते हैं, वरन् उसे स्थायित्व देते हैं। उसकी अनुभूति व्यक्ति सीमा से उठकर मनुष्यमात्र की अनुभूति होती है। वह विशिष्ट होकर भी निर्विशेष व्यञ्जना करते हैं और इस प्रकार उनका विशेष प्रत्यक्ष रूप मे निर्विशेष होकर सर्वजन संवेद्य होता है। हाँ, तो हम यह कहना चाह रहे थे कि जब साहित्य की सार्थकता बहुतो से ही सिद्ध होती है और बहुतों मे अपनी प्रतिष्ठा के लिए ही कोई रचना करता है, तो उसे सहज भाषा का पक्षपाती होना ही चाहिए। इस दशा मे क्लिष्ट और जटिल भाषा के लिए रचनाकार को अनावश्यक आसक्ति, निरर्थक हठ और दुराग्रह हो भी कैसे सकता है?

सहज भाषा की स्वाभाविकता

अब आप पूछ सकते हैं कि जब साहित्य का सर्वस्व एव साहित्यकार की साधना सहज भाषा ही है, तो सहज भाषा की माँग क्या बला है? क्लिष्टता होती, तो परिहार की आवश्यकता थी; जटिलता होती, तो दूर करने की चेष्टा होती। किन्तु कुछ भी नहीं है, तो निरर्थक माँग सरल भाषा की क्यो हो रही है? उत्तर मे हम कहेंगे, कुछ तो जरूर है। जो भाषा सहज होती है, वह सीधी भी होती है, यह नहीं कहा

जा सकता। भाषा की सरलता और बात है और सुबोधता और बात—विशेषकर चारु साहित्य के लिए; क्योंकि भाषा तो मात्र वक्तव्य वस्तु का वाहन है। इसलिए उसका रूप वक्तव्य की प्रकृति के अनुसार ही होगा। दो छोटे-छोटे उदाहरण देखिए। पहली दो पंक्तियाँ उर्दू के कवि 'नूह' की हैं—

इश्क़ में वह पार मंज़िल कर गया;
मरते मरते, मरते मरते मर गया।

इनमें एक भी शब्द ऐसा नहीं आया है, जिसमें कुछ दुरूहता हो या शब्दकोश टटोलने की आवश्यकता पड़े। चमत्कार का भी कोई मोह नहीं है; किन्तु भाव की दृष्टि से इसकी प्रकृति उतनी सीधी नहीं जितनी की देखते ही झलक आती है। चूँकि इसमें भाव प्रांजल है, इसलिए बात जी को तो तुरत छू लेती है, पाठक को भाषा की शक्ति की ओर ध्यान देने का अवसर भी नहीं मिलता, नहीं तो चार बार मरते शब्द के बेढंगे प्रयोग में घुल-घुल कर मरने की जिस पीड़ा को ढंग से कहा गया है, व्यञ्जना की उस खूबी पर भी प्रसन्नता होती। अथवा शेक्सपियर के 'किंग लीयर' की निम्नोक्त पंक्तियाँ—

दाउ विल्ट कम नो मोर
नेवर, नेवर, नेवर, नेवर, नेवर,
प्रे यू अनटू दिस बटन।

भाषा के जिस सहज धर्म एवं उपयुक्त शक्ति का निर्वाह ऊपर की पंक्तियों में है, उससे कहीं अधिक गहरी वेदना को रूप इन टूटे-फूटे शब्दों में मिला है; क्योंकि इसमें न रीति है, न अलंकार, न सुष्ठु शब्द-

योजना, न पद-विन्यास। फिर भी ये पंक्तियाँ मार्मिक हैं। क्यों? क्योंकि उस असीम वेदना की भाषा भी क्या हो सकती है, उसकी भाषा निर्भाषा ही है। किन्तु नीचे दास की विरह-विदग्ध पंक्तियाँ देखिए—

अब तौ बिहारी के वे बानक गए री,
तेरी तन-द्युति-केसर को नैन कसमीर भो।
श्रौन हुव बानी स्वाती बूँदन के चातक मे,
साँसन को भरिबो द्रुपदजा के चीर भो।
हिय को हरप मरु-धरनि को नीर भो
री, जियरो मनोभव-सरन को तुनीर भो।
ए री! बेगि करिकै मिलापु थिर थापु
न तो आपु अब चहत अतनु को सरीर भो॥

भाषा तो यहाँ भी कुछ कठिन नहीं है, किन्तु कथन की प्रकृति से उसमें सुगमता नहीं है। इसमें उपमा, रूपक, प्रसंग अनेक कुछ आ गये हैं और भाव की प्रेरणा से स्वतः आ गये हैं, कवि ने शास्त्र के नियमों को सामने रखकर इसकी रचना नहीं की। अब यदि इन में शब्दों का हेर-फेर किया जाय, तो अभिव्यक्ति का जो रूप है, वह टिक नहीं सकता। इनके लिए उपयुक्त शब्द यही और ये ही हैं। जिन शब्दों में भाव ने मूर्त्ति ग्रहण की, यदि वे उपयुक्त हैं, तो उनमें संशोधन की गुञ्जाइश ही नहीं हो सकती। सफल शैली के लिए उपयुक्तता ही सबसे बड़ी चीज है। भाव के उस प्रकाश में से एक शब्द का भी दूसरा शब्द उसी वजन का नहीं बैठाया जा सकता, बशर्ते कि वह अभिव्यक्ति सचमुच की अभिव्यक्ति हो। जार्ज सेंट्सबरी ने मिल्टन

की शैली में से ऐसे उदाहरण दिये हैं, जैसे—'दि स्वार्ट स्टार स्पेयस्ली लुक्स।' इसमें 'स' का एक अनुप्रास है। यह अनुप्रास आयासलब्ध नहीं, स्वतः स्फूर्त्त है। अतएव किसी भी रूप से इसमें परिवर्त्तन सौन्दर्य का विघातक ही होगा। यदि अनुप्रास न दे कर पंक्ति यों कर दी जाय—'दि फीयर्स स्टार रेयरली लुक्स', तो आप पाएँगे कि अनर्थ हो चुका है। स्वयं मिल्टन ने प्रयुक्त क्रिया-विशेषण की जगह 'स्टिन्ट्ली' देना चाहा था और देखा कि पंक्ति का गला घुट जायगा। कविता में उपयुक्त शब्द स्वतः आ जाता है तो युक्ति-तर्क से उसे हटाना असंभव हो जाता है। ऐसे उपयुक्त शब्द होते भी अमूल्य हैं। संसार के किसी रत्न को उसके तुल्य नहीं समझा जा सकता। 'गौर्गौः कामदुग्धा सम्यक प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः। दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति।' जैसा कि हम कह चुके हैं, ऐसे उपयुक्त शब्द कवि के निर्वाचन-कौशल से नहीं आते, बल्कि उस विषय की प्रकृति में रहते हैं, जिसका वर्णन कवि करता है, अनुभूति से ही वे फूट जाते हैं।

भाव और उनकी अभिव्यक्ति

अब इन्हें आप सहज भाषा कहें या नहीं कहें, भावों की अभिव्यक्ति के लिए साहित्य को इसी की शरण लेनी पड़ती है। सूर, तुलसी का घर घर आदर है। सब उनकी कृतियाँ चाव से पढ़ते हैं; किन्तु यह कहना पड़ेगा कि उन कृतियों का आदर भाषा की सहजता से नहीं है, कम-से-कम सहज का जो अर्थ लिया जाता है। विभिन्न भाषाओं में जिन-जिन कवियों की रचनाएँ अमर हुई हैं, उनमें से एक भी ऐसी

भाषा नहीं लिख गये, जिसे तथा-कथित सहज भाषा कही जा सके। शेक्सपियर, मिल्टन, गालिब्, रवीन्द्र, विहारी, केशवदास—ये सब अपने-अपने साहित्य के अन्यतम श्रेष्ठ कवि हो गये हैं। इनमें से एक की भी भाषा सीधी नहीं। कबीर की भाषा का तो कहना ही क्या। स्वयं अपढ़ थे, पर जो लिख गये, उसके लिए पढ़े लिखे लोग भी चकराते हैं। और हम यह देखते हैं कि इन सभी कवियों का लोगों में आदर भी है और इनकी रचनाएँ मानव-समाज के लिए कल्याणकर भी रही हैं। सच तो यह है कि राष्ट्र के मानसिक उत्थान के लिए उच्च भाव अनिवार्य हैं और उच्च भाव की प्रकृति के अनुरूप साहित्य की जो भाषा होगी, वह होगी तो सहज ही, किन्तु साहित्यिक-संस्कारहीन व्यक्तियों के लिए उसकी वक्रता सहज-गम्य नहीं होगी। इसलिए कि साहित्य की सहज भाषा बाजारू भाषा नहीं हो सकती, न मोटे प्रयोजनों की भाषा ही हो सकती है। साहित्यिक सहज भाषा का उद्देश्य केवल अपने दैनन्दिन प्रयोजनों को प्रकाश करना नहीं है, उसका काम है मनुष्य को पशुता के सामान्य धरातल से ऊपर उठाना, उसे यथार्थतया मनुष्यता की महिमा से मंडित करना। अपने इस आदर्श की रक्षा में कविता को बड़ी कठिन साधना करनी पड़ती है। लाल को लाल कह देना और बात है, अच्छे को अच्छा कहना और बात। भले को भले रूप में औरों को समझा देना आसान काम नहीं और यही कष्टसाध्य काम साहित्य को करना पड़ता है। साहित्य ही सदा से यह असाध्य साधन करता आया है, यह साहित्य की विशेषता है। अरूप को रूप देना और औरों को भी उसी भावमयता

में निमग्न करने की क्षमता ने ही साहित्य का आसन विज्ञान से ऊपर बढ़ा दिया है। विज्ञान सामान्य सत्य का अन्वेषी और प्रतिष्ठापक है। साहित्य असाधरण का सन्धानी एवं प्रकाशक। विज्ञान मनोविश्लेषण की विधि और रहस्य का शास्त्र तैयार करता है, साहित्य महान् मन और रहस्यवाले मनुष्य के चरित्र की सृष्टि कर देता है। विज्ञान शरीर-शास्त्र का प्रणयण करता है, साहित्य लावण्यमय रूप की रचना कर देता है। विज्ञान से हम मानव-धर्म की मान्यताओं के अनुकूल सामान्य मनुष्य का परिचय पाते हैं, साहित्य हमें विशिष्ट व्यक्ति की छवि तैयार कर देता है। वैज्ञानिक के मनुष्य और तुलसी के राम, कालिदास की शकुन्तला, शरत् की कमल में सामान्य और विशेष दृष्टि का ही अन्तर है। दूसरे शब्दों में कहें, तो विज्ञान की खोज जातिवाचक संज्ञा है, साहित्य की सृष्टि व्यक्तिवाचक।

अरूप का रूप

रचना की विलक्षणता एक आवश्यक गुण है। सिद्धि की रसदशा में साहित्य का तत्त्व निर्विशेष होता है, किन्तु साधना काल में सृष्टि एक विशिष्ट रूप-रचना होती है। इस विशिष्टता में ही रसोद्रेक की शक्ति निहित होती है, रुचि और आकर्षण का केन्द्र होता है। प्रभात और सन्ध्या रोज-रोज के चिर-परिचित दृश्य हैं। किन्तु प्रकृति में हम जिस प्रकार सन्ध्या-प्रभात को देखने के अभ्यस्त हैं, रससिद्ध कवि के वर्णन में सन्ध्या की वह सामान्य छवि ही नहीं मिलेगी, उसमें कवि के अपने व्यक्तित्व के सम्मिश्रण से एक विशिष्टता अवश्य होगी। उदाहरण के लिए एक आलोचक ने रवीन्द्र का निम्न सन्ध्या-वर्णन दिया है—

आज एइ दिनेर शेषे
संध्या ये ओइ माणिकखानि पोरेछिलो चिकण कालो केशे,
गेंथे निलेम तारे
एइ तो आमार बिनि सूतार गोपन गलार हारे।
एकटि केवल करुण परश रेखे गेलो एकटि कविर भाले
तोमार अनन्त माझे एमन संध्या हयनि कोनो काले
आर हबे ना कभु
एमनि कोरेइ प्रभु
एक निमेषेर पत्र पुटे भरि
चिरकालेर धनटि तोमार क्षणकाले लओ ये नूतन करि।

उपर्युक्त पंक्तियों में 'तुम्हारी अनन्त सृष्टि में ऐसी सन्ध्या और कभी नहीं हुई' तथा 'अपनी चिर-पुरातन निधि को तुम इसी प्रकार एक निमेष के दोने में नवीन कर लेते हो' द्वारा कवि ने रोज-रोज आनेवाली सन्ध्या को एक दिन की सर्वथा नवीन सन्ध्या का रूप दिया है।

जिन्हें इस बात की धारणा नहीं कि अरूप को रूप देना और सब के लिए समानगोचर एवं अनुभवगम्य करा देना क्या होता है, उनके लिए रचना की ऐसी असाधारणता एक बेतुकी-सी बात होगी। किन्तु वास्तव में इसके ठोस कारण हैं। एक ही वस्तु को देखने की सब की दृष्टि समान नहीं होती। दृष्टि की इस असमानता में ही अनुभूति की वैयक्तिकता विशिष्टता का आकार लेती है। दूसरी बात यह भी है कि अरूप अगोचर को देखने की अन्तर्दृष्टि सब को होती भी नहीं। जिन्हें वह दृष्टि होती है और साथ ही उस रूप के सम्यक मूर्त्ति-विधान की भी

स्वर्गीय शक्ति होती है, वह जब उसे सर्वसामान्य दृष्टि-पथ पर प्रस्तुत करता है, तो रूप-रचना या वाणी-देह असामान्य हो ही उठती है। इसलिए लोग रचना की सहज भाषा के बावजूद उसे सुबोध नहीं पाते और साहित्य पर क्लिष्टता, दुर्बोधता आदि का दोष लगाते हैं। किसी की भी रचना में क्लिष्टता नहीं होती, यह तो हम नहीं कहेंगे। जिनकी अन्तर्दृष्टि प्रांजल नहीं, वे सत्य को न तो साफ देख सकते हैं, न साफ-साफ उसे दिखा सकते हैं। साहित्य की भाषा की जटिलता ऐसी ही स्थिति में उत्पन्न होती है; किन्तु सत्य को जो सहज ही देखता है, वह सहज ही उसे दिखाना भी चाहता है। सत्य की प्रकृति के अनुसार औरों को वह दुर्बोध चाहे लगे, किन्तु उसकी तो यह विवशता होती है कि उस वाणी-रूप के सिवा उसका दूसरा वाणी-रूप हो भी नहीं सकता; क्योंकि उसके उस रूप में लेखक की चेतन सत्ता और अन्तर्दृष्टि का योग रहता है। यह उसने जिस रूप में कहा है, वही उसका रूप है—साहित्य में इसी का नाम शैली है। इस शैली को शापनहोर ने 'कवि के मानस-मुख की आकृति' कहा है। इसकी नकल नहीं हो सकती। शैली की नकल और चेहरे पर नकली मुखड़ा पहनना एक है। जटिल हो या सरल, शैली में स्वाभाविक भाषा का ही मूल्य है। कृत्रिम शैली मुँह बनाने-जैसी हास्यास्पद बात है। भाषा में भाव के उपयुक्त प्रकाश में भाषागत आदर्श काम नहीं करता; क्योंकि वहाँ ज्ञान नहीं, भाव का प्रकाश होता है; युक्ति नहीं, अनुभूति को रूप दिया जाता है; बुद्धि नहीं, कल्पना का हाथ रहता है। फलस्वरूप ऐसे वाङ्मय प्रकाश की काव्यशास्त्र की विधियों और आदर्शों द्वारा

विवेचना नहीं की जा सकती। यहाँ भावमयता ही उसका अलंकार होती है, रूपमयता ही उसकी अर्थसंगति है—इसलिए न तो दुर्बोधता को हम इसका दोस कह सकते हैं, न सुबोधता को इसका गुण। अपने उसी रूप में उसकी पूर्णता है, किसी प्रकार के परिवर्त्तन से उसका अंग-भंग ही होगा।

ज्ञान और कल्पना

दो अनन्य शक्तियों ने ही मनुष्य को मनुष्य बनाया है। ये दोनों शक्तियाँ सृष्टिकारिणी शक्तियाँ हैं, जिन्हें हम ज्ञान और कल्पना कहा करते हैं। ज्ञान द्वारा हममें प्रकृति और जीवन के तुलनामूलक अध्ययन तथा उसकी व्याख्या की क्षमता है। और, कल्पना हमारी वह क्षमता है, जो वस्तु-जगत् और प्रकृति के समन्वित विकास में अपनी भावनाओं को आरोपित कराती है। इसलिए प्रकृत रूप में कल्पना भी चिन्ता ही है। ज्ञान तत्वदर्शी होता है, कल्पना भावावेशिनी। साहित्य चूँकि भाव के भोजन से जीवन-धारण करता है, इसलिए कल्पना ही उसका अंग है। कल्पना की क्रीड़ाभूमि वह असीम शून्यता है, जो वस्तु-जगत् और कामना-जगत् के बीच में अगोचर रूप में फैली है। शब्द से जिस प्रकार हम आकाश की सत्ता को आयत्त करते हैं, वाणी-रूप में हम इसी प्रकार जीवन और प्रकृति के बीच की शून्यता को जीवन्त करते हैं। इसीलिए साहित्य की भाषा जरा बाँकी हुआ करती है। भाव की बोली मूलतः रूप है, इसलिए साहित्य में भाषा को रूप-सृष्टि के लिए लाक्षणिक होना पड़ता है। साधारणतया वाच्यार्थ में शब्दों की जो प्रकृति हुआ

करती है, वह लाक्षणिकता में नहीं होती। अगोचर को स्थूलगोचर रूप देने के लिए जो रूप-विधान अनिवार्य है, उसके लिए भाषा की लाक्षणिकता आवश्यक हो उठती है। इसमें सदा हँसनेवाला चाँद भी म्लान दिखाई देता है, फूल घूँघट खोलते हैं, बिजली काले मेघ की कनखी हो जाती है, शबनम में प्रकाश रो देता है, हरियाली में धरती हँसती है आदि-आदि। यह और कुछ नहीं हमारी कल्पना की क्रिया है, जो सर्वत्र हमारे अपने भावों का आरोप करती है, प्रत्येक वस्तु में हमारे सुख-दुःख के अनुसार रंग चढ़ाती है। प्रकृति में मानवता का यह आरोप हाल-साल का आविष्कार नहीं, कल्पना के उदय-काल से ही संभवतः है। ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन ने कहा है—'भावान-चेतानपि चेतनवत् चेतनान चेतनवत्। व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया।' अर्थात् कवि अपने काव्य में स्वतंत्र होकर अचेतन को चेतन तथा चेतन को अचेतन के समान व्यवहार में लाते हैं; क्योंकि वे मानते हैं कि चेतन पदार्थ के समान चेतना के संयोजन से अचेतन विषय भी रसमय होते हैं। इस मानवीकरण के अनेक उदाहरण पुराने काव्यों में मिलते हैं। 'उत्तर-रामचरित' में भवभूति ने लिखा है—'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलित वज्रस्य हृदयम्।' यानी पर्वत भी रो देता है और वज्र का हृदय भी फट जाता है। कई जगह पेड़ों और पत्थरों को मनुष्य की तरह सम्बोधन करके बातें कहीं गयी हैं। अस्तु।

साहित्य-संस्कार की कमी

साहित्य में मानवीकरण के इस व्यापार को बहुत-से लोग सहन नहीं करते, न ही वे यह मानते हैं कि इससे साहित्य का भला हो सकता

है। इसपर विशेष कुछ कहने का यह स्थल नहीं; किन्तु हम महज इतना कहेंगे कि जो इस विधान का विरोध करते हैं, वे व्यावहारिकता में ही इसका अंजाने उपयोग भी करते हैं। वे कहते हैं—वर्षा उतरी। शून्य में न सीढ़ी है, न वर्षा के हाथ-पाँव हैं; नूपुर उसके पाँव नहीं छोड़ना चाहते—नूपुर के विचार-विवेक के लिए हृदय-मस्तिष्क कुछ भी नहीं है। 'सूर्य प्रसन्न हुआ'—सूर्य एक जड़ अग्निपिंड है, उसमें हर्ष-शोक की जगह नहीं। ऐसे हजारों प्रयोग सब कोई रात-दिन करते हैं। यह वस्तुओं पर अपने भावों के आरोपण के सिवा और क्या है? साधारण बोल-चाल में भी लाक्षणिकता की भरमार है। उसमें हम बात को पीते हैं, किसी का हाथ पकड़ते हैं, नाक-कान काटते हैं, काल काटते हैं, समय को भगाते हैं, मन को मारते हैं, सौन्दर्य को टपकाते हैं, शोभा को बरसाते हैं आदि-आदि। यही लाक्षणिकता जब रचना में आती है, तो लोग भाव-ग्रहण में दुर्बोधता का अनुभव करते हैं। यों साहित्य की शक्ति के अतिरिक्त साहित्य के जो गुण हैं, उनमें प्रसाद गुण यानी सहजता को ही सर्वोपरि स्थान दिया गया है। फिर भी साहित्य के प्रति जो यह शिकायत है, उसका यथार्थ कारण जो समझ में आता है, वह यही है कि एक तो साहित्यिक-संस्कार ही लोगों में नहीं के बराबर है, दूसरा भाषा की प्रकृति से भी वे अभ्यस्त नहीं। साहित्य को सबके जीवन का अंग बनाना है—चाहे उसकी राजनीतिक उपयोगिता की दृष्टि से, चाहे सार्थकता की दृष्टि से। इसलिए उसे अपेक्षाकृत सहज-सरल बनाना है। किन्तु यह भाषा को बाजारू बना देने से नहीं होगा, ऐसा हमारा विश्वास है। हाँ, ऐसी रचनाएँ जो सिवा शब्दकोश और

काव्यशास्त्र को साथ रखें समझी ही नहीं जा सकतीं, अपेक्षित नहीं हैं। ऐसी रचना रचना भी नहीं कहलाती। जो सचमुच में स्वयं सुलझे नहीं होते, वे ही उलझन का साहित्य रचते हैं, जिसमें शब्दों के गहनों से लदा भाषा-शरीर तो होता है, प्राण नहीं होता। किन्तु जो स्वयं सुलझे होते हैं उनके साहित्य की भाषा स्वयं सहज होती है, फिर भी कभी-कभी वह भाव की प्रकृति के कारण सीधी नहीं होती। इसलिये सहज भाषा की जो माँग साहित्य से है, उसे हम इकतरफा कहेंगे। साहित्यिक-संस्कार लोगों में हो, इसके लिए शिक्षा की विस्तृत भूमि तैयार करने की माँग इससे भी जोरदार होनी चाहिए। उसी में हमारा, आपका, सबका कल्याण है।

साहित्य का व्यावसायिक दृष्टिकोण

दार्शनिकों के इस देश में साहित्य-साधना को सदा से सेवा और साहित्यकार को निष्काम गुरु समझा जाता रहा है। साहित्य-साधना बेशक एक बहुत बड़ी सामाजिक सेवा है, इसे हम भी सौ मुंह से स्वीकार करते हैं। किन्तु यह तो वेद में भी नहीं लिखा है कि सेवक को मुंह सी कर, पेट में पत्थर डालकर, बाल-बच्चों को हवा पिलाकर रखना चाहिए। हमारे समाज ने सेवा की ढाल सामने रखकर ओट में ऐसा ही शिकार किया है। उसने साहित्य-सेवियों से हद से ज्यादा अपेक्षायें कीं किन्तु उससे भी ज्यादा की उनकी उपेक्षा। इस कठोर सत्य की ओर से उसने आँखें ही मूँद लीं कि साहित्यिक भी सामाजिक जीव हैं, और-और लोगों की तरह उन्हें भी आजीविका की जरूरत है। जिन्दगी की जलती हुई वास्तविकताओं से जूझते हुए, जब-जब साहित्य-कारों की दुनिया में असन्तोष की आग जली, विद्रोह की भावनायें जगीं, तब-तब समाज ने उनकी इस आर्थिक दयनीयता और अभाव-जर्जर जीवन को स्वाभाविक और सनातन ही कहा। यह कहा कि रघुकुल रीति के समान यह उनकी विरासत है। परम्परा से यही होता आ रहा है। सरस्वती के वरद पुत्रों पर लक्ष्मी की कृपा किसी युग में, किसी देश में नहीं रही। पार्थिव अभाव ही आंतरिक भावमयता का पिता है। शेक्सपियर और गोल्डस्मिथ को लीजिये, प्रेमचन्द और निराला को देखिये, माइकेल मधुसूदन और शरत्चन्द्र को पढ़िये। ये सब-के-सब अभावों के साये में रहकर अनमोल और अमर भाव-रत्नों का

दान कर गये हैं। यों कहिये कि ये दुख-दैन्य की ही देन हैं।

दुःख-दैन्य के भी दान हैं, किन्तु यह कानून नहीं है कि साहित्यकारों को दुखी-दीन होना ही चाहिए। हम ऐसे भी मसिजीवी लेखन व्यवसाइयों को जानते हैं, जो कलम के प्रताप से धन-कुबेर हैं। 'ऑल क्वाइट ऑन दि वेस्टर्न फ्रंट' और 'जर्नीज एंड' का लेखक एक पुस्तक से लखपती बन गया। चर्चिल, शा, वेल्स, किप्लिंग की कलम की कमाई कोई कम नहीं। रवींद्र को उनकी रचनाओं से मामूली आमदनी नहीं थी। ऐसे कोड़ियों नाम गिनाये जा सकते हैं, जो लेखनकला की बदौलत सुखी-सम्पन्न हैं। ऐसे अभागे नहीं हैं जैसा कि नाट्यकार 'शा' ने अपने 'मैन और सुपरमैन' में व्यंग से लिखा है कि सच्चा कलाकार अपनी स्त्री को दाने-दाने की मुहताज रखता है, अपने बच्चों को कपड़े-लत्ते नहीं देता, साठ साल की बूढ़ी मां को नौकरानी से भी बदतर खटाता है, फिर भी हाथ में दूसरा काम नहीं ले सकता।

जहाँ तक हमारा ख्याल है, सेवा के इस निष्क्रिय उपदेशवाद से साहित्य का भी बुरा हुआ है, साहित्यकार का तो बुरा हुआ ही है। हमारी अपनी मान्यता तो यह है कि जब तक साहित्य साहित्यकार की जीविका का भी साधन नहीं होता, तब तक वह स्वस्थ और सम्पन्न नहीं हो सकता। आज तक हम अपने साहित्य में व्यावसायिक दृष्टिकोण को पाप समझते रहे हैं। स्वनामधन्य पं० बनारसीदास चौबे जैसे अनेक आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न पत्रकार सेवा के नाम पर अपने जात-भाइयों को साँप के समान हवा पीकर जीने का उपदेश देते रहे हैं। परन्तु इस थोथे आदर्शवाद ने हमें जो कुछ दिया, उसका ज्वलंत उदाहरण

हमारा साहित्य है। अनेक अग्रगामी प्रतिभाओं ने या तो सदा के लिए साहित्य-क्षेत्र को नमस्कार ही कर लिया अथवा लेखन को गौण बना कर पेट के लिए दूसरे धन्धों में लग गये और जिन्दगी की विषम समस्याओं से लड़ते हुए स्वाध्याय, मनन, चिंतन एवं लेखन से वंचित हो गये। नतीजा यह हुआ कि उगने से पहिले ही साहित्याकाश के अनेक सितारे डूबते गये और हमारे साहित्य की वैसी श्री-वृद्धि नहीं हो सकी, जैसी होनी चाहिए थी।

इस सत्य को हमारे साथ-साथ शायद आप भी स्वीकार करेंगे कि लेखकों को हम मौखिक सम्मान चाहे जो भी देते रहे हों, उन्हें समाज का अपरिहार्य अंग हमने नहीं कबूल किया है। यह इसलिए कि इस उन्नत युग में भी अभी तक हम पुस्तक को जीवन के लिए अनिवार्य नहीं बना सके हैं। अभी तक अज्ञान के अतिरिक्त विज्ञान हमारे जीवन का उद्देश्य नहीं बन सका है। भूख और प्रेम की आवश्यकता के समान जीवन में पुस्तक की तीखी जरूरत नहीं दिखायी देती जरूर, किन्तु प्रयास से इसकी भूख, रुचि या व्यसन को तेज किया जा सकता है। डिग्री की उपयोगिता लोग जीवन में देखते हैं नौकरी के क्षेत्र में, किन्तु साहित्य की उपयोगिता देखने की अंतःदृष्टि जगायी जाती है। कहावत की तरह यह बात प्रचलित है कि पाठक मिलते नहीं, पाठकों को गढ़ना पड़ता है। किन्तु व्यावसायिक दृष्टिकोण के न होने से पाठक गढ़ने का महान् कार्य हमारे यहाँ किया ही नहीं गया।

कोई भी साहित्य दो आधारों पर फलता-फूलता है। एक तो उत्पादन, दूसरा प्रसार। उत्पादन की जिम्मेवारी तो स्वभावतः

साहित्यकारों पर ही है, प्रसार गुणग्राही पाठक-समुदाय पर अवलम्बित है और यह काम एक तीसरे माध्यम द्वारा सम्पन्न हुआ करता है, वह हैं प्रकाशक। प्रकाशक साहित्य का सुचारु प्रकाशन और वितरण का जिम्मेवार है। हमारे यहाँ समर्थ साहित्य निर्माता भी हैं, सम्पन्न प्रकाशक भी हैं। किन्तु दोनों का संबंध सद्भाव पर प्रतिष्ठित नहीं होने की वजह से सजग पाठक समुदाय का निर्माण नहीं हो पाता। लेखक पुस्तकों से संतोषजनक उपार्जन में निराशा का इजहार करते हैं, प्रकाशक वर्षों में एक संस्करण को भी समाप्त नहीं कर पाने की विवशता दिखाते हैं। दोनों ही बातें अपनी जगह पर सही हैं, किन्तु यह अकारण नहीं है। उसका जो असली कारण है, उसके निराकरण की समुचित व्यवस्था नहीं की जाती।

भारत में पढ़े-लिखों की तादाद ज्यादा नहीं है, यह सत्य इतना पुराना हो रहा है कि अब उसकी दुहाई देना घिनौना लगता है। यहाँ सौ में दस आदमी शिक्षित हैं। किन्तु जो शिक्षित हैं, उनके समुदाय में भी मुश्किल से हजारों में एक ही साहित्य के नाम पर कभी कुछ पैसे कुर्बान कर देता है, वह भी रपट पड़े की हरगंगा की तरह। यहाँ साधारणतया लोग गरीब हैं, देश के औसत लोगों की आमदनी अच्छी नहीं। इसे भी हम मानते हैं। किन्तु इसी गरीबी में फिजूल-खर्ची का अन्त नहीं है। पारचून की दूकानों में ग्राहकों की नहीं, सामान की कमी का रोना रोया जाता है। सिनेमा में कई-कई दिन तक लोग टिकट के लिए घूमते हैं। बित्ते भर जमीन पर दूकान पसार कर पान-बीड़ीवालों ने शहर में कई कोठियाँ खरीद ली हैं।

पान बेच कर कई लखपती हो गये, सिनेमा-सितारों की तस्वीर बेचनेवाला अच्छी पूञ्जी का मालिक है। एक बेचारा किताब का दूकानदार है, जो भावों के अनमोल रत्नों को सजा कर भी दिन भर मक्खियां मारा करता है। यह स्पष्ट सत्य है कि अन्य व्यसन लोगों के जीवन के अंग-से हो गये हैं; पुस्तक ही सब के लिए निहायत फिजूल चीज है। हम अगर उनमें पुस्तक प्रेम बना पाते, पाठकों की सृष्टि कर पाते, तो इस निरक्षरों और निरन्नों के देश में भी भावों के अवदान ग्रंथ दीमकों द्वारा नहीं चाटे जाते! हमारे लेखकों और हमारे प्रकाशकों का ही यह महान् उत्तरदायित्व था, जिसे वे नहीं निभा पा रहे हैं।

बात-बात में लोग विलायत की बात ले आते हैं। कहते हैं, अंग्रेजी साहित्य महज इसलिए इतना समृद्ध है कि वहां पढ़े-लिखे लोग ज्यादा-से-ज्यादा हैं। हमारी समझ में पढ़ा-लिखा होने से ही सब पुस्तक प्रेमी नहीं हो जाते। यदि ऐसा ही होता, तो आपके देश में जितने लोग पढ़े-लिखे हैं, उतनी पुस्तकों की तो खपत हो ही जाती। और यह संख्या बहुत मामूली नहीं होती। लेकिन आपके यहां कितने ऐसे सुखी और शिक्षित परिवार हैं, जिनके मासिक बजट में पुस्तकों पर भी कुछ अनिवार्य खर्च होता है? उनकी फिजूलखर्ची उनके वाजिब खर्च से बड़ी है, सिनेमा, शराब, रेस, फ्लैश में, शेयर मार्केट में उनके पैसे कटते हैं, उन पर पुस्तकें ही नहीं बिकतीं। हमसे पूछिये, हम कहेंगे, विदेशों में लोगों में पुस्तक प्रेम जगाने के लिये सम्मिलित रूप से लेखक-प्रकाशक ने काफी अर्से तक साधना की है, तपस्या की है। इस दिशा में आज भी वे निश्चेष्ट नहीं बैठे हैं। एक युग तक बड़े-

आकर्षक परिचय से प्राणवंत। विज्ञापन के इस युग में ऐसी पुस्तक-तालिकाओं की उपकारिता आम तौर से हमारे यहाँ लोग नहीं समझते। यहाँ तो पुस्तकों के गेटअप पर भी खर्च के भय से वैसा ध्यान नहीं दिया जाता। लेखक को कम पारिश्रमिक मिले, कागज और छपाई में कम-से-कम खर्च हो; दाम ज्यादा से-ज्यादा रक्खा जाय और विक्रेताओं को कमीशन ज्यादा देने का प्रलोभन देकर गरीब-ग्राहकों की जेब से कान मल कर पैसा वसूल कर लिया जाय, हमारे यहाँ का व्यावसायिक दृष्टिकोण यही है। कम पैसे देने पड़ें, इसलिये अनधिकारी लोगों की रचनाओं पर ही प्रकाशक सन्तुष्ट हो लेते हैं। किताब को लोभनीय बनाने के लिए, जो व्यापार के लिहाज से लाभदायक है, कुछ खर्च नहीं किया जाता। जिल्द तो ऐसी लगेगी कि आज बाद कल ही गुड्डी। इस पर यदि इस मँहगे जमाने में लोग पुस्तक पर व्यय करना फिजूलखर्ची समझते हैं, तो अनुचित नहीं प्रतीत होता। हमारे अधिकतर प्रकाशक व्यवसाय नहीं करना चाहते, चाहे जैसा हो, छूमन्तर से धनी होना चाहते हैं। यह संकीर्ण मनोवृत्ति केवल साधारण साहित्य पर ही हो, ऐसी बात नहीं। पाठ्य-पुस्तकों में भी, जो भावी समाज का उत्तरदायी है, यही हाल है। कतरनों से लहमे में भानमती के कुनवे-सा पाठ्य-संग्रह तैयार हो जाता है, जैसा-तैसा छप जाता है और पैरवी के रामबाण से पाठ्य-पुस्तक निर्द्धारिणी समिति उन्हें मंजूर कर देती है। उनसे विद्यार्थियों के जीवन-निर्माण का कार्य हो या न हो, पढ़ायी तो वे ही जायँगी। जहां साहित्य-व्यवसाय का यह दृष्टिकोण है, वहां के लिए क्या कहा जाय?

किन्तु विलायत के साहित्य की क्या, तालिका-साहित्य की उपयोगिता की बात लीजिए। उनसे पाठकों की अभिरुचि में वृद्धि तो होती ही है, बहुत बार उनसे अच्छे-अच्छे लेखकों को उत्तम साहित्य-रचना की प्रेरणा मिलती है। उसमें भी प्राणवन्त रस और रूप होता है। ले हेट ने अपनी पुरानी पुस्तक-तालिका पर ही पुस्तक लिखी है। 'डिटेल्ड नोट्स ऑन बुक्स ऐन्ड रीडिंग' पर चार्ल्स लैंब की रचना उसी की प्रेरणा से है। रस्किन का विख्यात निबंध 'ए जॉय फॉर एवर' पुरानी किताबों की दूकान पर ही हुई। पाठक समुदाय की सृष्टि के लिए वहां विभिन्न विद्वानों की पुस्तक सम्बन्धी उक्तियाँ भी पुस्तक रूप में संकलित की गयी हैं—मसलन ग्रैंडर मैथ्यु का 'वैलेड्स ऑव बुक्स', ल्युनार्द का 'दि बुक लवर्स एंथोलोजी' आदि-इत्यादि। अब आप समझ सकते हैं कि विदेशों में सर्वसाधारण में पुस्तकें क्यों प्रिय हो उठी हैं; क्यों पुस्तक उनके जीवन का अंग बन गयी है। औरतों को अपने शृङ्गार के समान पुस्तकें प्रिय हो उठी हैं, पुरुषों को प्रियतमा के समान पुस्तक प्रिय हैं। अनेक रचनाओं में पुस्तकों की उपमा प्रियतमा से भी दी गयी है।

पुस्तकों पर आप-ही-आप प्रीति नहीं उपजती, वह सीखी और सिखायी जाती है। विदेशो में इस दिशा में युगांतरकारी प्रयास सदियों से हुए हैं और हो रहे हैं। इससे आप यह न समझें कि यह केवल विज्ञापन का ही प्रताप है। लेखन और प्रकाशन में भी उन्होंने कल्पनातीत उन्नति की है। चाहे जिस विषय का हो, जैसा भी साहित्य हो, सब में उनकी रुचि का हम अद्भुत प्राचुर्य पाते हैं। अच्छी-से-

अच्छी पुस्तकें सुलभ मूल्य में उपलब्ध हैं और एक-एक विषय का अगाध साहित्य। अपने साहित्य में हम विषय-वैचित्र्य में भी रुचि की दीनता पाते हैं। पुस्तक-प्रेम बढ़ाने के लिए हम रुचि-वैचित्र्य की उपेक्षा हरगिज नहीं कर सकते। लोगों की खास-खास रुचि का हमें ध्यान रखना ही चाहिए। इस लोक-रुचि से हमारा तात्पर्य यह कदापि नहीं कि हम 'छबीली भठियारिन' और 'किस्सा साढ़े बाइस यार' तैयार करें। इस प्रकार के साहित्य की हमारे यहाँ बहुलता है। बनारस और लखनऊ के कुछ दूरदर्शी व्यापारी जनरुचि की हवा के अनुकूल बहकर काफी लाभ उठा चुके हैं। बिगड़े चस्के को सुधारने में लोगों को भगीरथ प्रयत्न करना पड़ेगा। रुचि वैचित्र्य से हमारा मतलब साहित्य के सभी अंगों को स्वस्थ करने से है। अभी हमारा साहित्य बहुत क्षीण-स्वास्थ्य है। थोड़े दिनों के प्रयास के अनुसार यह प्रगति संतोषजनक भले ही हो, साहित्य के यथार्थ उत्कर्ष में तो अभी बहुत श्रम और समय की आवश्यकता है। अभी तो इसका कोई भी अंग पुष्ट नहीं, कई अंग तो रूप भी नहीं ले सका है। इन सबों की पूर्ति से यथोचित लाभ की सम्भावना है। साहित्य को केवल लोकरुचि का अनुगामी तो नहीं होना है, लोकरुचि निर्माण भी उसका एक बड़ा उत्तरदायित्व है। ज्ञान-विज्ञान की सभी पुस्तकें हमें जिज्ञासु पाठकों की दुनियां को सुलभ कर देनी है। इस प्रकार हमें आर्थिक लाभ होगा ही, सेवा का सुफल भी मिलेगा।

पुस्तकों को जन-जीवन के सान्निध्य में लाने के लिए आलोचना-साहित्य की बड़ी उपयोगिता है। लोगों में साहित्य-रुचि की विशुद्धता

का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व आलोचकों पर है। पाठक और लेखक के बीच का योग-सूत्र आलोचक है। लेखकों की चिंताधारा उन्हीं के द्वारा जन-साधारण में प्रचलित और परिचित हो पाती है। यदि समालोचना का दर्पण पाठकों के हाथों में न दिया जाय, तो साहित्य के बाजार में बांस-फांस और मिसरी एक ही मोल बिकने लगे। सच्ची समालोचना भी रचनात्मक साहित्य है और उसमें रस-साहित्य के समान ही आनन्द का अजस्र स्रोत है। संसार के साहित्य आलोचनाओं के फलस्वरूप अत्यधिक लोकप्रिय हुए हैं। हमारे यहाँ उचित आलोचना के अभाव में बहुत-सी प्रतिभायें लोगों की नजरों की ओट में ही आज तक रह गयीं, अनेक लेखक-कवियों पर आज तक लोगों में कतई भ्रांत धारणा है। आलोचना द्वारा इन सबों का परिष्कार और परिहार आवश्यक है। तभी देवदत्त प्रतिभा के साथ न्याय कर्त्तव्य के पालन में हम समर्थ हो सकते हैं और तभी साहित्य की अपरिसीम शक्ति, अनन्त आनन्द का यथोचित लाभ सर्वसाधरण को हो सकता है। ऐसी यथेष्ठ पत्र-पत्रिकायें निकालनी चाहिये, जो अपने पृष्ठों पर ऐसी उपयोगी आलोचनाओं को स्थान दे। उनमें नवीन पुस्तकों का परिचय नियमित रूप से निकला करे, यह परिचय केवल पुस्तकों के नाम-धाम तक ही सीमित न हो, बल्कि उनकी विशेषताओं को सही-सही रूप में पाठकों तक पहुँचा सके। ऐसी पत्रिकायें साहित्य का व्यावसायिक मूल्य ही नहीं बढ़ातीं, ये देश की मूल्यवान् सम्पत्ति होती हैं। इन्हें हम साहित्य-सृष्टि का एक शक्तिशाली कारखाना कह सकते हैं। हमारे यहां विविध विषय विभूषित पत्र-पत्रिकायें बरसाती मेढ़कों

जितनी ज्यादा और वैसी ही निरर्थक हैं। उनमें आलोचना का जो स्तम्भ होता है, उसमें एक नेग भर निभाया जाता है, उत्तरदायित्त्व की गुरुता नहीं समझी जाती। एक बँधा-बँधाया सिलसिला भर है, जैसे सरकारी कागजातों की खाना-पूर्त्ति होती है, वैसे ही बिना पुस्तक पढ़े भी उनकी आलोचनायें ऐसे स्तम्भों में दी जा सकती हैं, और अकसर दी जाती हैं। 'साहित्य संदेश' इस दिशा में एक प्रयास है, किन्तु उसे हम शिशु-प्रयास ही कहेंगे, फिर भी उस पत्रिका और साहित्य-रत्न-भण्डार से उसने हिंदी पाठकों के सामने इसका एक रूप रक्खा है। साहित्यतपस्वी शिवपूजन जी ने 'हिमालय' के पृष्ठों में सामयिक साहित्य के परिचय का एक अनुकरणीय कदम बढ़ाया था। दुर्भाग्य से उसका भी लाभ हम स्थायी नहीं बना सके। यूरोप और अमरीका में ऐसी पत्र-पत्रिकाओं की बहुलता है। उनके 'देन ऐंड नाउ' जैसे सामयिक पत्र की यदि हमारे प्रकाशक नकल करें, तो उससे पाठकों की रुचि का परिमार्जन हो, पुस्तकें खरीदने की प्रवृत्ति पुष्ट हो और साहित्य के बारे में कुछ सुचिंतित विचार लोगों को प्राप्त हो सके।

दुःख के साथ कहना पड़ता है कि हमारे पुस्तक व्यवसायी साहित्य में व्यावसायिक दृष्टिकोण का ज्ञान महज पाठ्य-पुस्तकों के प्रकाशन में ही देखा करते हैं। स्वयं हमें कितने शुभैषियों ने यह सदुपदेश दिया कि कहीं यदि कलम-कागज की बदौलत कुछ करना चाहते हो, तो पाठ्य-पुस्तकों की ओर झुको। तुम्हारे इस निबन्ध और काव्य-सृष्टि से कुछ होने-जाने का नहीं। उदाहरण में उन्होंने कुछ ऐसे जीवित प्रकाशक, लेखक का नाम गिनाया, जिन्होंने वास्तव में आर्थिक

दृष्टि से बड़ी उन्नति की। किन्तु मेरा विश्वास है, यदि लेखक-प्रकाशक की सद्भावना जनित सम्मिलित प्रचेष्टा हो, तो उपन्यास, कहानी आलोचना-विषय, कविता, नाटक इन सबों का व्यावसायिक मूल्य कम नहीं है। विदेशों में और आपके देश में भी ऐसे सफल साहित्य-व्यवसायी दुर्लभ नहीं हैं। सच पूछिये तो पुस्तकों की जीवन में जरूरत होती है, जिस प्रकार शिशुकाल से जीवन में शिक्षा का अभ्यास कराया जाता है, उसी प्रकार लोगों में इस जरूरत को जगाने की जरूरत होती है। विदेशों में लोगों ने पाठकों के हृदय-क्षेत्र में साहित्य प्रेम का पौधा उगाने के लिए वर्षों से खाद देने का काम किया है, तब आज लोग उस पौधे से फल-फूल तोड़ रहे हैं। हमारे यहाँ इसके लिए प्रबल आंदोलन चलाने की जरूरत है। साहित्य का काम सेवा तो है ही, मगर इसे व्यावसायिक दृष्टिकोण से देखने की भी जरूरत है।

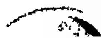
जितनी ज्यादा और वैसी ही निरर्थक हैं। उनमें आलोचना का जो स्तम्भ होता है, उसमें एक नेग भर निभाया जाता है, उत्तरदायित्व की गुरुता नहीं समझी जाती। एक बँधा-बँधाया सिलसिला भर है, जैसे सरकारी कागजातों की खाना-पूर्त्ति होती है, वैसे ही विना पुस्तक पढ़े भी उनकी आलोचनायें ऐसे स्तम्भों में दी जा सकती हैं, और अकसर दी जाती हैं। 'साहित्य संदेश' इस दिशा में एक प्रयास है, किन्तु उसे हम शिशु-प्रयास ही कहेंगे, फिर भी उस पत्रिका और साहित्य-रत्न-भण्डार से उसने हिंदी पाठकों के सामने इसका एक रूप रक्खा है। साहित्यतपस्वी शिवपूजन जी ने 'हिमालय' के पृष्ठों में सामयिक साहित्य के परिचय का एक अनुकरणीय कदम बढ़ाया था। दुर्भाग्य से उसका भी लाभ हम स्थायी नहीं बना सके। यूरोप और अमरीका में ऐसी पत्र-पत्रिकाओं की बहुलता है। उनके 'देन ऐंड नाउ' जैसे सामयिक पत्र की यदि हमारे प्रकाशक नकल करें, तो उससे पाठकों की रुचि का परिमार्जन हो, पुस्तकें खरीदने की प्रवृत्ति पुष्ट हो और साहित्य के बारे में कुछ सुचिंतित विचार लोगों को प्राप्त हो सके।

दुःख के साथ कहना पड़ता है कि हमारे पुस्तक व्यवसायी साहित्य में व्यावसायिक दृष्टिकोण का ज्ञान महज पाठ्य-पुस्तकों के प्रकाशन में ही देखा करते हैं। स्वयं हमें कितने शुभैषियों ने यह सदुपदेश दिया कि कहीं यदि कलम-कागज की बदौलत कुछ करना चाहते हो, तो पाठ्य-पुस्तकों की ओर झुको। तुम्हारे इस निबन्ध और काव्य-सृष्टि से कुछ होने-जाने का नहीं। उदाहरण में उन्होंने कुछ ऐसे जीवित प्रकाशक, लेखक का नाम गिनाया, जिन्होंने वास्तव में आर्थिक-

दृष्टि से बड़ी उन्नति की। किन्तु मेरा विश्वास है, यदि लेखक-प्रकाशक की सद्भावना जनित सम्मिलित प्रचेष्टा हो, तो उपन्यास, कहानी आलोचना-विषय, कविता, नाटक इन सबों का व्यावसायिक मूल्य कम नहीं है। विदेशों में और आपके देश में भी ऐसे सफल साहित्य-व्यवसायी दुर्लभ नहीं हैं। सच पूछिये तो पुस्तकों की जीवन में जरूरत होती है, जिस प्रकार शिशुकाल से जीवन में शिक्षा का अभ्यास कराया जाता है, उसी प्रकार लोगों में इस जरूरत को जगाने की जरूरत होती है। विदेशों में लोगों ने पाठकों के हृदय-क्षेत्र में साहित्य प्रेम का पौधा उगाने के लिए वर्षों से खाद देने का काम किया है, तब आज लोग उस पौधे से फल-फूल तोड़ रहे हैं। हमारे यहाँ इसके लिए प्रबल आंदोलन चलाने की जरूरत है। साहित्य का काम सेवा तो है ही, मगर इसे व्यावसायिक दृष्टिकोण से देखने की भी जरूरत है।

साहित्य-विचार

किसी राष्ट्र की अक्षय शक्ति का स्रोत साहित्य के माध्यम द्वारा ही एक से दूसरे युग में प्रवाहित होता है। राष्ट्र को शक्ति हो, सांपत्तिक सम्पन्नता हो, स्वतंत्रता हो, सब कुछ हो और स्वस्थ साहित्य न हो, तो कहना होगा कि राष्ट्र गूँगा है। वाणीविहीन राष्ट्र भी क्या होता है, हम नहीं कह सकते। काल के अनन्त प्रवाह में जातीय शक्ति का ह्रास हुआ करता है, भौतिक समृद्धि विनष्ट हुआ करती है, शस्त्र-शक्ति की प्रभुता अन्तिम सांस गिन देती है; परन्तु राष्ट्र की जो निधियाँ साहित्य के भंडार में सँजोई जाती हैं, वही कालांतर तक स्थायी रह सकती हैं। साम्राज्य और साहित्य इन दोनों में कौन अधिक स्थायी हो सकते हैं, इसका साक्षी मानव का इतिहास है। दिग्विजयी सम्राट् इस धराधाम पर अनेक आये, अनेक ऐसे साम्राज्यों का वैभव-विस्तार हुआ, जिसकी सीमा में सूरज डूब नहीं पाता, किंतु अमरता की माला काल के हाथों से साहित्य के गले ही में पड़ी। रामराज्य आज अलौकिक और अलीक हो उठा है, किन्तु वाल्मीकि की रामायण है। निकट भविष्य में नहीं रहेगी, ऐसी भी संभावना नहीं। ग्रीक जाति का गौरव-सूर्य कब का अस्ताचलगामी हो चुका, किन्तु होमर रचित काव्य है। इटली के गौरव के वे दिन नहीं रहे, कवि दांते की अनुपम प्रतिभा का प्रसाद आज भी है। विक्रमादित्य के बाहुबल के वरदान एक-एक कर कहानी हो गये, किन्तु कवि कालिदास की काव्य-कृतियों की रस-मन्दाकिनी उसी रूप में आज भी बह रही है।



साहित्य वास्तव में राष्ट्र की कालजयी सम्पत्ति है। उसकी सञ्चारी शक्ति भी बड़ी व्यापक होती है। इसलिये साहित्य जैसी मूल्यवान सम्पत्ति की सुरक्षा और उसकी शक्ति के विस्तार के लिये मूलतः दो बातें अपेक्षित हैं। सुरक्षा के लिये समर्थ साहित्यकार का होना और उसकी अन्तःशक्ति के प्रसार के लिये सहृदय पाठक-समुदाय का होना। केवल सृष्टि ही साहित्य की उपयोगिता नहीं; उसके उद्देश्य की सिद्धि तो वास्तव में तब है, जब कि अधिक से अधिक लोग उसके अमृत-प्रवाह से आप्लावित हों। किसी भी प्रकार की सृष्टि हो, वह आत्मप्रकाश की आकुल आकाङ्क्षा से होती है। 'सोऽकामयत। बहुस्यां प्रजाये येति।' ईश्वर की एक से अनेक हो जाने की इच्छा का फल यह सृष्टि है। साहित्य भी एक स्वतन्त्र सृष्टि है। साहित्यकार की बहुतों में अपने अस्तित्व की अमरता की अन्तःप्रेरणा से इसका जन्म होता है। अतएव यह स्वतः सिद्ध है कि गुणग्राही पाठकों का समुदाय मिले बिना साहित्य-सर्जना का विशिष्ट प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। लेखक की आत्म-प्रकाश की आकांक्षा-प्रसूत होने से ही साहित्य का आत्मनिष्ठ होने से काम नहीं चलता। चूँकि साहित्य की प्राण-शक्ति से निर्माण का बहुत बड़ा प्रयोजन सिद्ध होता है, इसलिये उसे आत्म-निरपेक्ष यानी औरों के लिये होना पड़ता है। इसलिये विद्याओं के विभिन्न विभागों में अच्छी पुस्तकें नाम लेने को दो ही चार हों, तो हर्ज नहीं, किन्तु उसकी उपयोगिता की सार्थकता के लिये अधिक से अधिक पाठक तो चाहिये ही। पाठक न हो तो अनमोल चितराजि निर्जन के फूल-सी बेकार हो जाती है।

प्रतिभा का वरदान किसी देश को भाग्य से ही मिला करता है। साधुओं की जमात और हंसों की पांत के समान सच्ची सृष्टिकारी प्रतिभायें बहुत अधिक नहीं मिलतीं, यह निर्विवाद सत्य है। ठीक ऐसा ही एक विवाद रहित सत्य यह भी है कि अधिकारी पाठक भी मुश्किल से ही मिलते हैं। हमारी समझ में जितने लोग पढ़ पाते हैं, उन सब को सही मानी में पाठक नहीं कहा जा सकता। अधिकारी पाठक वही हो सकता है जिसमें कम से कम इतनी योग्यता, यह संस्कार तो जरूर ही हो कि वह रचना के संचित रस की प्रतीति कर सके। किसी रचना से कोई तभी मुग्ध हो सकता है, जब लेखक की और उसकी अन्तर्दृष्टि तदाकार से जाय। यों काव्यलेखन और काव्यपाठ अलग वस्तुयें हैं, किन्तु आनन्द की शेष सीमा पर कवि और पाठक एक हो जाते हैं। रसदृष्टि की तदाकारता में पाठक कवि हो जाता है। इसलिये साहित्य को हम अकेले रचयिता की सृष्टि नहीं कह सकते, समान रूप से वह पाठकों की भी सृष्टि होती है।

पाठकों की इस योग्यता का शास्त्रीय नाम ,सहृदयता या रसिकता है। काव्यानुभूति में रमना और उससे रस ग्रहण करना रसिक का काम है और यह काम कुछ कम कठिन नहीं है। यह अभ्यास और अनुशीलन सापेक्ष है, फलतः गुणग्राही पाठक स्वतः तो भाग्य से ही मिलते हैं, यथार्थ में उन्हें गढ़ना पड़ता है, विद्युत् के मूल शक्ति-केन्द्र से प्रकाश-वितरण के लिये जिस प्रकार तारों की योजना करनी पड़ती है, उसी प्रकार साहित्य के शक्ति-संचार के लिये लेखक पाठक के बीच [illegible] होती है। साहित्य में इस योजक रेखा का

काम समालोचक करते हैं, साहित्य-विचार का महान् उत्तरदायित्व समालोचक का है। वह रचना का अन्तर्निहित सत्य, सौन्दर्य एवं शक्ति की धारणा पाठकों में जगाता है। साहित्य का रसास्वादन करना पाठकों का काम है, रसिक होने से तो यह काम चल जाता है। किन्तु केवल रसिक होने से साहित्य का विचारक नहीं हुआ जा सकता। उसके लिये रसज्ञता अपेक्षित है। रसिकता तो विधिदत्त भी हो सकती है, रसज्ञता वैसी नहीं होती। रसास्वाद स्वभावगत अथवा अज्ञता में भी सम्भव है, किन्तु साहित्य के विचार के लिये जो रसमर्मज्ञता चाहिये, वह सज्ञानता से प्राप्त होती है। इसलिये साहित्य-विचार के लिये पाठकों के समान रसग्राही तो होना ही पड़ता है, रसज्ञ भी होना पड़ता है, ताकि रचना का सार-सत्य, मौलिक दृष्टि, उसका उत्कर्ष या अपकर्ष दिखाया जा सके। साहित्य-विचार रसिक अज्ञानों का काम नहीं, न ही अरसिक पंडितों का काम है।

साहित्य-विचारक की जिम्मेदारी दोहरी होती है। रचयिता को समझना, पाठकों को समझाना। इसलिये कहना नहीं होगा कि उसके उत्तरदायित्वों की सूची बड़ी लम्बी होती है, यानी उसे बहुत कुछ होना पड़ता है, किन्तु अन्य अनेक गुण उसमें जो-जो भी हों, दो तो अनिवार्य ही हैं। एक तो यह कि वह कवि का समानधर्मा हो। कवि का समानधर्मा से यह तात्पर्य नहीं कि वह भी काव्य करे, बल्कि यह कि सब गुणों के पहले उसमें कवि की रसदृष्टि अनिवार्य है। कवि के समान ही उसे भी सहृदय होना चाहिये, जिससे वह उसकी अन्तर्दृष्टि की सृष्टि में अवगाहन करके उस अन्तर्निहित सत्य को प्रकाश में रख सके,

जिसमें साहित्यकार की जीवन-साधना लगी हो। केवल शास्त्रीय पांडित्य से रचना को खण्ड-खण्ड करके दिखाना शरीर-विज्ञान द्वारा जीवन की जानकारी के समान ही निरर्थक है। साहित्य-विचारक में कवि के समान ही किन्हीं अंशों में कल्पना, भावुकता, अनुभूति का होना जरूरी है, तभी वह साहित्य-कृति के साथ न्याय करते हुए अपने कर्त्तव्य का निर्वाह कर सकता है। जो लोग आलोचना को बुद्धिवृत्ति का ही ताना-बाना समझते हैं, वास्तव में वे सही रास्ते पर नहीं होते। आलोचना भी सच पूछिये तो रचनात्मक साहित्य है, उनमें न केवल विचारों की अनुर्वरता होती है, बल्कि कल्पना और भावों की रसमयता भी होती है। जिस समालोचना में रचनात्मक साहित्य जैसा आनन्द न मिले, वह एकांगी और अपूर्ण है। आलोचक के लिये रचनाकारी और आलोचनाकारी, दोनों ही शक्तियाँ होनी चाहिये।

दूसरा जो अनिवार्य गुण साहित्य-विचारक में होना चाहिये, वह है निष्पक्षता। निष्पक्षता यानी उसमें कोई पूर्वग्रह न हो, वाद-विशेष के सिद्धान्त पर ही वह सब साहित्यिक कृतियों का मूल्याङ्कन न करे, अपनी ही रुचि के तराजू पर वह सब कुछ को न तौल बैठे आदि-आदि। साहित्य-विचारक के उत्तरदायित्व का यह सबसे कठिन पहलू है और इसी कसौटी पर बहुत अधिक लोग खरे नहीं उतर पाते। भारतीय परिवार की कोई कुमारी जिस प्रकार विवाह के पावन-सूत्र द्वारा किसी पराये के गोत्र की होकर उसीकी सबसे अधिक अपनी हो जाती है और भावी मिलित जीवन से सामाजिक कल्याण का आधार होती है, आलोचक को ठीक उसी प्रकार पहले लेखक की अन्तर्दृष्टि

का अनुगामी होना पड़ता है। लेखक ने क्या कहना चाहा है, जो कहना चाहा है, उसे किस रूप में और किस हद तक कह सका है और वैसा उसने क्यों कहा, सबसे पहले आलोचक को इस स्तर पर आना चाहिए। शापनहॉर ने 'ऑन-ऑथरशिप ऐंड स्टाइल' में एक बहुत मार्के की बात कही है कि किसी एक ने पूछा, 'क्यों साहब फलां गांव को कितनी देर में हम पहुँच सकेंगे? जिनसे प्रश्न किया गया वे बोले—पहले आप जरा चल कर हमें दिखायें। आपकी चाल का अन्दाज हो ले, तो बतायें कि यह दूरी कितनी देर में आप तै करेंगे।' तात्पर्य यह कि कहीं जाने में चाल और किसी रचना के सत्य तक पहुँचने में लेखक की अभिव्यक्ति ही सहायिका होती है। तत्व, सत्य और विषय नित्य नये नहीं मिला करते, अपनी सृजनकारी प्रतिभा से मौलिकता की महिमा से रचना का शृङ्गार करना ही साहित्यकार का कृतित्व है। यदि वह अपने विषय-वस्तु को कहने जैसा कह लेता है, तो सोलह आना नहीं तो बारह आना सफल तो उसे मानना पड़ेगा। फिर यह देखने की बात रह जाती है कि उसकी उस रचना की आंशिक सफलता समाज-जीवन को भी कुछ देती है अथवा नहीं। एक पुस्तक कुछ देती है, इससे अधिक और उससे क्या मांग की जा सकती है? हकीकत में तो आलोचक के कर्त्तव्य की इतिश्री वहीं हो जाती है कि वह ठीक-ठीक यह बता दे कि वास्तव में कोई रचना है क्या? उसकी प्राण-वस्तु, उसकी कलात्मकता, उसकी आंतरिकशक्ति, उसका रूप सौष्ठव, बस। उसके बाद स्वयं सब उसके उस आनन्द को अपने-अपने पात्र के अनुसार ग्रहण करेंगे।

किन्तु कहना नहीं होगा कि इन सारे कुसंस्कारों से ऊपर उठे हुए तीखी अंतर्दृष्टि वाले कुशल समालोचक साहित्य-संसार में नहीं के समान ही मिलते हैं, जिनसे यह आशा की जाय कि रचना की निजस्व मौलिकता, उसकी विशेष अनुभूति को ग्रहण करके वे साहित्यकार के प्रति सुविचार और साहित्य-प्रेमियों का यथार्थ उपकार करेंगे। जिस साहित्य को देखिये, एकांगी आलोचना से ही वह भरा मिलेगा। ऐसे विचार को आलोचना तो कहा जा सकता है, समालोचना हर्गिज नहीं। इसलिये हम तो यही कहेंगे कि सच्चे साहित्यकार का मिलना कठिन है, गुणग्राही पाठक का कठिनतर और रसज्ञ विचारक का कठिनतम। अपनी अनुभूति को वाणीरूप में व्यक्त करना निश्चय ही एक बहुत बड़ी बात है, किन्तु लेखक की कुशलता वहाँ है, जब उस अनुभूति को औरों के मन में पुस्तक के पन्नों से पहुँचा देता है। समालोचक ही इस असाध्य-साधन में साहित्कार और पाठकों के बीच की सहायक शक्ति होते हैं। दुर्भाग्य से वह यदि निष्पक्ष न हो सके तो सबका दुर्भाग्य समझना चाहिये। क्योंकि इससे किसी राष्ट्र की एक अज्ञात किन्तु ऐसी महान् क्षति होती है कि जिसका अनुमान नहीं किया जा सकता। उसकी एक असीम शक्ति के स्रोत का सम्पूर्ण अपव्यय होता है। जहां तक हम समझते हैं, जिस देश को कोई सृजनकारी प्रतिभा मिलती है, वह भाग्यशाली है और साथ ही जिसे कुशल सहृदय समालोचक मिलता है वह परम सौभाग्यशाली है। दृश्य हो और द्रष्टा न हो, तो उस निरर्थकता की वेदना को जबान नहीं दी जा सकती। साहित्य हो और रसिक न हो, तो सब बेकार है। विचारक

देश को इसी अपार क्षति से बचाने का माध्यम है। दुःख है कि ऐसा नहीं होता। जिस समालोचक के न होने से साहित्य की दुनिया में बांस-फांस और मिसरी के एक ही मोल बिकने की आशंका होती है, उसी समालोचक के होते हुए भी साहित्य का सुविचार नहीं होता बल्कि अनर्थ होता है। यह कोई हमारे ही साहित्य का रोना नहीं, साहित्य का इतिहास यह बताता है कि सभी देश और युग में साहित्य में समालोचकों के नाम पर अधिकतर रोना ही रोना रहा। चूँकि साहित्य समालोचक ने अपने कर्त्तव्य की महत्ता कीपूरी पवित्रता नहीं समझी, अपनी रुचि के पलड़े पर तौल कर ही साहित्य का मूल्यांकन करते रहे और इस कर्त्तव्यहीनता के बड़े भयंकर दुष्परिणाम होते रहे। कितनी अनमोल कृतियाँ मूल्य रहित समझी गयीं, कितनी प्रतिभाओं की कलियों को पूर्ण-विकास के पहले ही झड़ जाना पड़ा। समालोचकों द्वारा उपकार के बदले अपकार होने के अनेक ऐतिहासिक प्रमाण दिये जा सकते हैं। व्यक्तिगत रुचि पर साहित्य-विचार कदापि अपेक्षित नहीं। जानसन ने मिल्टन, शेक्सपियर, ग्रे, सब की कविताओं की निंदा की और पोप की कविता की तारीफ में आसमान जमीन के कुलावे एक कर दिये। किन्तु आज हम देखते हैं कि 'यश की गाड़ी' पर पोप के लिये खास स्थान नहीं रह गया है। शेली को किसी ने 'एंजेल' कहा, तो किसी ने और कुछ। साहित्य के क्षेत्र में रवींद्रनाथ द्विजेंद्रनाथ, बंकिमचन्द्र या शरच्चन्द्र को बहुत अधिक नहीं सह सकते थे। 'एकटी पुरातन कथा' में उन्होंने बंकिम बाबू पर बड़ा कटाक्ष किया था, जिससे तिलमिला कर बंकिम बाबू को लिखना पड़ा था—"मेरे लिए

यह नयी बात नहीं। रवींद्र बाबू ने जब क ख भी नहीं सीखा था, उसके पहले से मेरे नसीब में ऐसे सुख-दुख बहुत आये हैं। मेरी ऐसी आलोचनाओं का मैंने कोई जवाब नहीं दिया है।" दिलीपकुमार को लिखे हुए एक पत्र से शरत् के सम्बन्ध में रवींद्र के मनोभाव का पता चलता है। उन्होंने एक बार लिखा—"बहुतेरे लोग गल्प रचना में शरत् को मुझसे श्रेष्ठ समझते हैं। लेकिन मेरे लिये यह इसलिये चिन्ता का विषय नहीं है, क्योंकि कविता लिखने में मैं शरत् से श्रेष्ठ हूँ, मेरे बड़े से बड़े निंदक भी यह कहेंगे।" माइकेल मधुसूदनदत्त को समसामयिक लोगों ने आलोचना के तीखे बाणों से कम नहीं मारा; बंकिम बाबू के लिए तो लोगों ने यहां तक लिखा—

हे बंगदर्शन कर
बंकिम बानर

यही हाल रवींद्र आदि अन्य अनेक देशी-विदेशी साहित्यकारों का रहा। इन आलोचकों की यातनाओं के बारे में यूगों ने एक पत्र में अपने एक मित्र को लिखा था—'मेरे प्रकाशक से पता चला कि पिछले तीन साल के अन्दर मेरे विरुद्ध ७४० आलोचनायें लिखी गयीं। मगर मैंने उनमें से एक को भी नहीं पढ़ा।' क्वार्टरली रिव्यू में कीट्स की ऐसी कड़ी आलोचना की गयी कि कवि का कोमल हृदय टूक-टूक हो गया। वर्ड्सवर्थ पर भी कड़ी चोटें पड़ती रहीं। हिन्दी साहित्य में भी व्यक्तिगत रुचि, दलबंदी, वाद-विशेष की पूजा से ऐसी आलोचनायें प्रचलित हैं। पूर्वग्रह के कारण शुक्ल जी ने सूरदास के साथ सच पूछिये तो न्याय नहीं किया। 'निराला', 'उग्र' आदि तो कलम-

कसाइयों के खासे शिकार रहे। खैर। साहित्यकारों को विचारकों की करनी से बड़ा मनस्ताप रहा है। उन्हें भी कभी-कभी असह्य होने पर कुछ कहना ही पड़ गया है। बायरन ने तो कड़ा जवाब दिया था—

दि पीथियन ऑव दि एज एन ऐरो स्पेड
ऐंड स्माइल्ड! दि स्पोयलर्स टेम्प्ट नो सेकंड ब्लो
दे फाउन ऑन दि प्राउड फीट दैट् स्पर्न दैन लाइंग लो।

ऐसे ही आलोचकों के लिए टेनीसन ने कहा था—"हे अलोचक, अपनी तुच्छ बुद्धि के द्वारा कवि के मस्तिष्क की शान्ति को भंग न करो। क्योंकि तुम उसकी गम्भीरता की थाह नहीं पा सकते।" लग-भग ऐसी ही बातें ब्राउनिंग की पत्नी ने भी आलोचक के लिए कही हैं।

इन प्रसंगों के उल्लेख से हमारा अभिप्राय यह नहीं कि समालोचक कलाकार की ठकुरसुहाती करे, मैं तुम्हें कालिदास कहूँ, तुम मुझे भव-भूति कहा करो, यह नीति भी नहीं बरती जानी चाहिए जो आज बहुत मौके पर देखा जाता है। युग में अर्थापेक्षिता इतनी प्रबल हो गयी है कि जो न हो, थोड़ा है। किन्तु इसी संक्रमण काल में साहित्य का प्रयोजन बड़ा है और इस साहित्य के लिये सत्समालोचकों की आवश्यकता है। समालोचक कहने से ही हमारा अभिप्राय यह समझना चाहिये कि जो सही अर्थ में साहित्य-विचार के अधिकारी हों। वे किसी मित्र की प्रशस्ति न लिखें, अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिये अभि-नन्दन-ग्रन्थ की योजना न बनायें और न किसी के प्रति अपने दिल का गुबार उतारने के लिये नाहक ही उसकी खलड़ी उधेड़ें। समालोचक

में सत्यप्रियता, निर्भीकता यह सब कुछ चाहिये, किन्तु जैसा कि हम कह चुके हैं, सहृदयता भी चाहिये, तभी साहित्य-विचार द्वारा साहित्य की श्रीवृद्धि एवं राष्ट्र का अनन्त उपकार हो सकेगा। हमने ऐसे आलोचक देखे हैं, जिन्हें ऐतिहासिक कहा जा सकता है, हमने ऐसे आलोचक देखे हैं, जिन्हें विज्ञानी कहा जा सकता है, किन्तु वह दिन अभी भी दूर ही दीख रहा है, जब हमें सहृदय आलोचक मिलेंगे, जिनकी समालोचना रूखी विवेक-बुद्धि की ही उपज नहीं होगी, बल्कि रचनात्मक साहित्य होगी। सभी देशों के साहित्य में आज इसी अभाव का रोना रोया जाता है और संस्कृति के इस महान् संकट काल में संस्कृति के परिष्कार और सुरक्षा की महान् शक्ति साहित्य के स्वरूप को वादों के बादलों में ढांका जा रहा है। न उसकी गति स्पष्ट है, न गंतव्य। सरस्वती के मन्दिर में फूल चढ़ाने वाले जैसे अन्धकार में ही टटोल रहे हों। ऐसे ही समय में विचारकों की विद्युत्-रेखा की सबसे अधिक आवश्यकता आ पड़ी है। हिन्दी साहित्य मे भी आज जिस साहित्यिक अनाचार और स्वेच्छाचारिता का बोलबाला दिखायी दे रहा है, वह इसीलिये कि साहित्य का विचार ठीक-ठीक करने वाला नहीं के ही बराबर है। लेखक और पाठक के बीच नियंत्रण के लिये जिस प्रबल आधार की आवश्यकता है, वही नहीं है। कई लोग विचारक के उत्तरदायित्व को देखते हुए कहते हैं कि साहित्य का मार्ग प्रदर्शक समालोचक ही है; किन्तु अच्छा हो हम उन्हें मार्ग-प्रदर्शक के बजाय मार्ग प्रशस्तकर्ता कहेंगे। नई लीक बनाने वाली प्रतिभा किसी साँचे में ढाली नहीं जाती, स्वयमेव ढल कर आती है। लेखक को सातवें आसमान तक चढ़ा

देना सम्भव हो सकता है, स्रष्टा की सृष्टि करना समालोचक के वश के बाहर की बात है। स्कॉट जेम्स ने बहुत ठीक कहा है कि आलोचक उस मार्ग को प्रशस्त करने में दत्तचित्त होता है, जो तात्विक और सत्य है। इसमें उसे प्रिय-अप्रिय दोनों ही तरह का आचरण करना पड़ता है, किन्तु देखने की बात यह होती है कि उसके उस आचरण का अन्तःस्रोत सदुद्देश्य से है या नहीं। माली बाग की जितनी भी छँटाई चाहे करता हो, उसकी शोभा-वृद्धि ही उसका उद्देश्य हुआ करता है। समालोचक की कटुता यदि निर्माण-कामी हो, तो हर्ज नहीं। किसी हद तक तो वह अनिवार्य ही है। परन्तु विशेषतया ऐसा नहीं हुआ करता। वह या तो आक्षेप के लिये ही आक्षेप करता है अथवा विध्वंसात्मक रीति से। किसी पर रीझे तो प्रशंसा के पुल बांध दिये; किसी से खीझे तो खामखा उसकी बखिया उधेड़ने लगे। अधिकतर ऐसा ही होता रहा है, जिसके कारण कुछ सुफल नहीं हुआ और, अब तक का साहित्य का इतिहास हमें बताता है कि साहित्य को आलोचनाओं की अग्निपरीक्षा देकर ही अपने अस्तित्व को कायम करना पड़ा है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि काल का व्यवधान ही साहित्य की सबसे अच्छी कसौटी सिद्ध होता रहा है। साहित्य के वर्तमान की लोकप्रियता ही उसकी श्रेष्ठता का सबसे बड़ा प्रमाण नहीं साबित हो सका। कवि पोप का जिक्र हम कर चुके हैं। आलोचक जानसन को कौन कहे, वाल्तेयर जैसे कलम के जादूगर ने भी उसकी सौ मुँह से प्रशंसा की थी। किन्तु आज पोप की विशेष कोई छाप सहृदयों के हृदय पर नहीं दिखायी देती। और जिसे समसामयिक लोगों

ने उपेक्षा से कभी देखा भी नहीं, शताब्दियों के बाद ऐसा साहित्यकार ही पूजित होता देखा गया है। शेक्सपियर की आज की प्रसिद्धि किसी से छिपी नहीं, किन्तु उसके जीवन-काल में उसकी वैसी पूछ नहीं हुई, जैसी होनी चाहिये थी। उसकी रचनायें तीन सदी के बाद आश्चर्यजनक रूप से आदृत हुईं। अनेक साहित्यकारों के साथ यही हुआ। मेथ्युआर्नल्ड ने ठीक कहा है कि पर्वत के पदप्रांत में खड़े होकर उसकी उच्चता ठीक-ठीक नहीं मापी जा सकती, उसके लिये काल का व्यवधान अपेक्षित है। हम समझते हैं, ऐसा इसलिये होता है कि साहित्य तत्काल की प्रयोजन-सिद्धि का साधन नहीं है। वह युग विशेष का भी होता है, चिरकाल का भी। इसलिये चिरकालीन वस्तु का चरम निर्णय वर्तमान से ही नहीं हो सकता। यदि वह व्यक्ति विशेष, जाति या युग विशेष की वस्तु होती, तो वर्तमान में ही उसके सर्वोपरि विचारक और साक्षी मिल सकते हैं। युगानुग साहित्य रचे तो अनेक गये होंगे किन्तु काल की चलनी से छनकर उनमें से अधिकांश ही बह गये—एकाध ही आज टिके हैं। रामायण, महाभारत की तरह कितने ग्रंथ अनन्त काल की अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण होकर अपनी श्रेष्ठता को प्रमाणित कर सके हैं?

किन्तु यह देखकर स्वभावतः ही एक प्रश्न उठता है कि चूंकि काल का व्यवधान ही श्रेष्ठ साहित्य के प्रमाण की सर्वापेक्षा प्रबल परीक्षा है इसलिये क्या साहित्य का विचार करना छोड़ दिया जाय? काल तो अनन्त है, किन्तु जीवन की परिधि कितनी छोटी है। अपनी मृत्यु के बाद ताज की शोभा कौन देखने को रह जाता है? इसलिये

यह तो हो ही नहीं सकता कि काल के निर्णय के आसरे लोग हाथ पर हाथ धरे बैठे रह जायँ। उससे साहित्य के तात्कालिक प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती और एक अयाचित अनाचार फैल जाता है। इसलिये हम देखते हैं कि सभी काल में साहित्य का विचार होताही रहता है और होना भी चाहिए। भवभूति की तरह अनन्त काल पर कृति को छोड़ कर स्रष्टा तो बैठ जा सकता है, किन्तु जिनके लिये सृष्टि है, उन्हें तो अपने ही काल में उससे लाभान्वित होने की आवश्यकता है। कलाकार की साधना तो चाहे प्रत्येक युग में पूजित होती रहे, पर उसकी पूजा करने वाले अपने-अपने युग तक ही होते हैं। इसलिये साहित्य के वर्त्तमान का एक बहुत बड़ा महत्व है। वर्तमान के लाभ से साहित्य-प्रेमी वंचित न हों, इसके लिये साहित्य-विचारकों की कर्तव्य-तत्परता अपेक्षित है और वह तत्परता साहित्य के सुविचार की होनी चाहिए। कहा जाता है, इतिहास अपनी पुनरावृत्ति करता है। साहित्य के विचार में ऐसी लकीर की फकीरी न हो, विचारकों की ओर से ऐसा ही सद्प्रयत्न होना चाहिए।

काव्य की वास्तविकता

संस्कृत के किसी विद्वान् कवि की एक उक्ति है, जिसका तात्पर्य है—

चन्द्रमण्डल के मध्य जिस गहराई से आकाश की नीलिमा झाँकती है, वह गहराई इतनी है कि विधाता ने उसके कुछ अंश चुराकर दमयन्ती के मुख की रचना की।

जिज्ञासुओं से यह बात छिपी नहीं कि ऐसी दून की हाँकना कवियों की ख़ास आदत है। फिर इस उड़ान के सामने बेचारी वास्तविकता किस आँगन में साँस ले? इसीलिए बहुतों की धारणा है, काव्य और वास्तविकता, ये दोनों परस्पर विरोधी बातें हैं। वास्तविकता गद्य के लिए ही अपेक्षित है, उसी का गुण है। कविता का कल्पतरु खड़ा है—कवि-कल्पना एवं कवि-प्रतिभा पर। शेली ने कविता को कल्पना की अभिव्यक्ति, कहा है। एक अन्य विद्वान् का कथन है, पोइट्री विदाउट मिस्टीसिज़्म इज़ प्रोज़। अस्पष्टता के अभाव में काव्य गद्य है। अब हमें संक्षेप में इस पर विचार कर लेना है कि काव्य की अस्पष्टता क्या वस्तु है।

बङ्ग-भाषा के अमर महाकवि माइकेल मधुसूदन दत्त ने मेघनाद वध महाकाव्य के मङ्गलाचरण में कल्पना का आवाहन इस प्रकार किया है—

तुमिओ आइस, देवि, तुमि मधुकरी
कल्पने! कविर चित्त फुल वन मधु
लए, रच मधुचक्र गौड़जन याहे,

आनन्दे करिवे पान सुधा निरवधि॥

कवि ने कल्पना को 'मधुकरी' की आख्या दी है। फूलों से रस आहरण करना ही मधुकरी का काम है और कवि की कल्पना भी रस-सृष्टि ही करती है। फूलों में व्याप्त रस का सन्धान करना, उसे मधु के रूप में लाना, यह मधुकरी ही का काम है। प्रकृति गूढ़ रहस्यों का आगार है, उसके मर्मस्थल तक एकमात्र कवि ही की अन्तर्दृष्टि पहुँच सकती है। कवि अनन्त प्रकृति के अन्तराल की वस्तुओं को लोक-चक्षु के सामने समुद्भासित कर देता है; उन गूढ़ रहस्यों पर आलोकपात करता है, जो लोकातीत हैं; उस सुर को पकड़ता है, जो अभूतपूर्व है। और तभी हम उसे अवास्तव, अलीक अथवा असत्य कह उठते हैं।

यथार्थतया कविता है सत्य की अभिव्यञ्जना, लेकिन यह सत्य वही समझ या जान सकेगा, जो यथार्थ-जगत् में अपनी अन्तरात्मा का मेल करना जानता हो, वस्तु के वाह्य स्वरूप में कुछ विशेषता जोड़ना जानता हो। सत्य के सौन्दर्य की उपलब्धि के लिए अनिवार्य है कि इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी हों। रस आँखों देखने की चीज नहीं, हृदय से अनुभव करने का पदार्थ है।

अब हम यह देखते हैं कि जिसे हम कल्पना कह रहे हैं, उसे हम आविष्कार भी कहें, तो अनुचित नहीं। कवि नया विषय, नयी बातें, नूतन वस्तु पेश करते हैं। हमारी बहिर्मुखी इन्द्रियाँ अपने आसपास जिसका पता नहीं पातीं, तभी हम इसे अवास्तव कहने लगते हैं। यही है काव्य की अस्पष्टता। फिर भी कविता की वास्तविकता

अस्वीकार नहीं की जा सकती। साधारणतया कल्पना जिस अर्थ में व्यवहृत होती है। वह वास्तविकता का विरोधी तो अवश्य है, लेकिन सत्य-प्रकाश के साधनों में इसी का प्रमुख स्थान है। सत्य-सुन्दर का प्रकृत आभास देने के लिए फैंसी और इमेजिनेशन का सहारा लेना आवश्यक है। फैंसी और इमेजिनेशन एक ही अर्थबोधक शब्द होते हुए भी दरहकीकत अलग-अलग मानी रखते हैं। इमेजिनेशन कल्पना है और फैंसी कल्पना की वह अवस्था है, जो गाम्भीर्य की दृष्टि से कल्पना से कुछ नीचे है।

यह कल्पना का ही जादू है कि जो स्वप्न की वस्तु हैं, उन्हें ही हम काव्य में जाग्रतावस्था में स्पष्ट देख लेते हैं, एक साथ ही सत्य, सुन्दर और चमत्कार हमारी अन्तर की आँखों के आगे साकार हो उठते हैं। केवल इतना ही क्यों, ऐसा प्रतीत होता है कि यही तो चाहिये था, गोया यह चिरन्तन वस्तु है, सभी दिनों से यह है और रहेगा भी। ऐसी स्थिति में काव्य द्वारा प्रतिष्ठित विषयों को अवास्तव कहने का कोई उपाय ही नहीं रह जाता।

प्रसिद्ध अंग्रेज कवि बायरन की कविताएँ कल्पना की उड़ान, शब्दलालित्य, पदविन्यास और मनोहारी भावों से ओतप्रोत हैं, परन्तु लब्धप्रतिष्ठ समालोचक हडसन ने उन्हें उच्चकोटि का स्रष्टा नहीं स्वीकार किया है। क्यों? क्योंकि बायरन की कविताओं में काव्योचित चमत्कार का यथोचित निर्वाह होते हुए भी एक बहुत बड़ी कमी है। वह यह कि बायरन की कविताओं के स्वाभाविक भाव प्रवाह में बहते हुए भी लोगों को यह भावना नहीं होती कि यह काल्पनिक नहीं है।

कल्पना तो अवास्तव को भी कवि के अन्तरपट पर जीवित यथार्थ से अधिक वास्तविक बना देती है। गर्ज कि हम जिन वस्तुओं को आँखों देख रहे हैं, जो घोर वास्तविक हैं, उनमें भी प्रकृति का रहस्यजाल बिछा है। कवि ही डूबकर उसके निगूढ़ आशय को प्रत्यक्ष करता है और यही काव्य का सत्य है, यही कविता की वास्तविकता है। कीट्स ने कहा भी है—हम जिसे कल्पना द्वारा पकड़ लेते हैं, चाहे वह अभूतपूर्व हो, चाहे भूतपूर्व, वह सत्य होगा ही।

फलतः काल्पनिक कहकर हम काव्य की वास्तविकता को अस्वीकार तो कदापि नहीं कर सकते। कल्पना तो महज एक तरीका है, जिससे सत्य को रूप देने में मदद मिलती है। रूप के बिना उपलब्धि कठिन ही नहीं, असम्भव है। किसी भी अदृश्य वस्तु की प्रत्यक्षानुभूति के लिए यह आवश्यक है कि हम सबसे पहले उसे किसी विशेष रूप में अपने हृदय के आगे प्रत्यक्ष कर लें। रूप निष्ठा या आस्था का उद्बोधक है। हम मूर्तियाँ इसलिये गढ़ते हैं, चित्र इसीलिये बनाते हैं। साहित्य में इसीलिये उस अदृश्य सत्य को हम निरन्तर रस-रूप में प्रत्यक्ष करने को यत्नशील होते हैं। काव्य को इसीलिए फैंसीफुल और इमेजिनरी होना पड़ता है। उपनिषद को भी महज इसीलिये अभीष्ट निर्देश में तरह-तरह की कल्पनाओं का आश्रय लेना पड़ा है। मोटा-मोटी यह प्रत्येक व्यक्ति जानते हैं कि ईश्वर सभी जगहों में हैं किन्तु ज्ञान-वृद्धि के अलावे इससे हम में रसानुभूति हर्गिज नहीं होती। यह सम्पूर्णतया गद्य का विषय है, काव्य का सत्य ऐसा नहीं होता। कवि तो उस सत्य सुन्दर की एक अपरूप छवि ही खींच देता है।

हम पहले ही कह चुके हैं, काव्य सत्य का प्रकाश है एवं रूप के सहारे ही हम सत्य को सुन्दर रूप में पा सकते हैं, इसीलिये बोलते चित्रों को सामने लाना भी काव्य का एक विशेष गुण है। कविता चित्रों में अधिक से अधिक प्रकाश करने की कोशिश करती है ताकि बिना विश्लेषण के ही उसके अर्थ अन्तश्चक्षु में स्पष्ट हो उठें। वह भावों का रूप-विधान करती है, अगोचर को वाणी-चित्र द्वारा पाठकों के सामने उपस्थित करती है।

अभिप्राय यह कि कवि-कल्पना वास्तविकता की विरोधी नहीं वरन् अपनी आत्मानुभूति के संयोग से वह वास्तविकता को अत्यन्त ही हृदयग्राही, एक अनुपम अभिनव रूप में प्रकाशित करती है। हम उसे अवास्तव इसलिये कहने लगते हैं, क्योंकि हमें उसमें एक नूतनता का आभास मिलता है, दूसरे शब्दों में यह कवि की मौलिकता है। कवि संसार के प्रत्यक्षगोचर रूप में अपनी ओर से बहुत कुछ तोड़-जोड़ करते हैं—उस अन्तर्दृष्टि के बिना जब वह विशेष बात हमारी समझ में नहीं बैठती है, तो हम उसे अस्पष्टता, रहस्यवाद अथवा छायावाद कहकर निश्चिन्त हो जाते हैं। यथार्थ सत्य और काव्य-सत्य में एक अन्तर है। जिसे हम स्वभावतया सत्य स्वीकार करते हैं, वह या तो तथ्य होता है, या तत्व। जैसे कोई शास्त्रीय प्रतिपादन या ऐतिहासिक विवरण। अयोध्या और हिमालय के बारे में जो चमत्कारपूर्ण वर्णन आपको सत्य प्रतीत होता है, वह तथ्य या तत्व ही कहा जायगा। किन्तु साहित्य को तो अच्छा को अच्छा साबित करना पड़ता है। यह एक कठिन काम है। वस्तु के बाह्य प्रत्यक्ष और आंतर गोपन को

रूप देना एक असाध्य-साधन है, जो काव्य में कल्पना किया करती है। वस्तु के वाह्य आवरण से अभ्यस्त आँखों के आगे जब उसके अगोचर अन्तर का रूप आता है, तो अवास्तव का भ्रम होता है।

अब जब हम काव्य की वास्तविकता पर विचार करते हैं तो उसकी परिभाषा होती है—गद्य के लिये जो वास्तविक नहीं है, वही काव्य की वास्तविकता है। हमारी अनुभूतियों के भी पर्याय हैं—स्थूल अनुभूति, सूक्ष्म अनुभूति। जब काव्य की विवेचना करते हुए हमारी अनुभूति स्थूल होती है, तो काव्य की वास्तविकता तक हमारी पहुँच ही नहीं हो पाती, क्योंकि गद्य की भाँति स्थूल अनुभूतियों से कविता का भाव-स्वर्ग नहीं निर्मित होता। काव्य का जीवन तो सूक्ष्म अनुभूति है। उसको सूक्ष्म कवि-हृदय ही अनुभव कर सकता है। कब किस आषाढ़ में महाकवि ने नीले आसमान पर एक खण्ड मेघ को तैरते देखा था और अमर महाकाव्य की सृष्टि उसीसे हो गयी। साधारण लोगों के लिये उस श्याम मन्थर मेघ-खण्ड की कीमत ही क्या? कोई वैज्ञानिक होता, तो उस मेघ की परिभाषा वह एक रूखे से तत्व के अनुसार ही करता। संसार भर में वास्तु-कला का अद्वितीय निदर्शन ताजमहल क्यों बना, कैसे बना, कितने रुपये खर्च हुए, किसने बनाया और किसने बनवाया आदि बातें किसी ऐतिहासिक के लिये महत्वपूर्ण हैं, पर रवीन्द्रनाथ के 'शाहजहाँ' तथा पन्त के 'ताजमहल' की कीमत कभी कम नहीं होगी, गर्चे उनकी सत्य प्रतिष्ठा काव्योचित कल्पना पर निर्भर है। चाहे कोई इन बातों को घोर अवास्तविक कहें, फ़िज़ूल

की कहें किन्तु कवि की वाणी ने उसे सत्य ही नहीं, अमर भी बना दिया है।

कवि की तीव्रतम अनुभूति जब अपनी विशेष प्राप्ति को सबों के उपभोग के योग्य किसी मूर्त्ति विशेष में ग्रथित कर देती है, तभी समझना होगा कि काव्य की यही सूक्ष्म दृष्टि उसकी वास्तविकता है। बकौल मैथ्यू आर्नल्ड—हमलोगों के अन्तरतम में एक बड़ी ही गहरी, अत्यन्त ही अनोखी, नूतनतम और सम्पूर्ण अनुभूति का विकास होता है, यही काव्य की वास्तविकता है। जिन्हें रस आहरण की प्रकृति-प्रदत्त प्रतिभा है, वे कवि की इस विशेषता पर आप ही आप मुग्ध होते हैं। एक बात भूल न जानी चाहिये—कवि और दार्शनिक के विचार अलग-अलग हैं। कवि विशेष वस्तु की सृष्टि करता है, दार्शनिक उस विशेष को निर्विशेष बना कर देखता है। कविता रचना-काल के पहले कवि के हृदय में एक अनोखा उल्लास होता है—और वह उल्लास व्यक्ति या वस्तु तक ही सीमित होता है। कारण उसमें कवि का अपना व्यक्तित्व, अपनी स्वभावसिद्ध भावना, अपनी अनुभूति शामिल होती है। काल्पनिक सत्य को सत्य की महिमा से मण्डित करने वाली वस्तु यही व्यक्तिगत अनुभूति है।

रवीन्द्रनाथ ने अपनी कविता में एक लड़की का चित्र उपस्थित किया है। नाम है रसकली। आबनूस के कुन्दे-सी काली। कोई उसकी ओर ताकता भी नहीं। लेकिन उसकी आँखों के सहारे कवि ने उस काली-कलूटी नारी को भी सबों के देखने की चीज कर दिया है। यथा—

कृष्ण कलि आमि तारेइ बलि,
कालो तारे बले गायेर लोक।
मेघ्ला-दिने देखेछिलाम माठे,
कालो मेयेर कालो हरिण-चोख।

× × ×

घोमटा माथाय छिलो ना तार मांटे,
मुक्त वेणी पिठेर परे लोटे।
कालो ? ता से यतइ कालो होक्,
देखेछि तार कालो हरिण-चोख।

यह वस्तुनिष्ठा उन्नीसवीं सदी की देन है। कवि की एकान्त व्यक्तिगत और वस्तुनिष्ठ अनुभूति ही उसके आवेग को प्रत्यक्ष कर पाती है। ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जो कवि के अपनत्व के आलिङ्गन से वञ्चित हो। लेकिन विचारणीय यह है कि इस वस्तुनिष्ठा की साधना का चरम उद्देश्य क्या है ?

प्रकृति में जो प्रतिनियत प्रतिभात हो रहा है, वह उसी अनन्त सत्य की, शिव की, सुन्दर की मधुर झाँकी है, जिसे हृदयङ्गम करना ही मनुष्यों की प्रबल आकांक्षा, चिरन्तन प्यास रही है। यही उपनिषद् का 'आनन्दरूपंमृतं' है एवं काव्य इसी अनुसंधान का परिणाम है। कवि मेसफिल्ड ने कहा है—"केवल मात्र इसी सत्य के अनुसन्धान के लिए ईश्वर ने हमें यहाँ रख छोड़ा है।"

इसलिए काव्य ज्ञान का चरम है। इससे अधिक सुन्दर परिभाषा कविता की नहीं है। कवि जिस सत्य-सुन्दर का आभास अपनी कविता

में देता है, वह नित्य है, चिरन्तन है, अनन्त है, इसलिए काव्य का सौन्दर्य शाश्वत है और कवि कीट्स के शब्दों में 'इट विल नेवर पास इन टु नथिंगनेस'। काव्य की वास्तविकता का चरम यही है।

सत्यं शिवं सुन्दरम्

'सत्यं शिवं सुन्दरम्' साहित्य के आदर्श और उद्देश्य के सूत्ररूप में व्यवहृत होने लगा है। राष्ट्रीय भावना में 'वन्देमातरम्' की जो लोकप्रियता है, साहित्य-क्षेत्र में इसकी व्यापकता उससे कुछ कम नहीं। वन्देतारम् की रचना बहुत पहले नहीं हुई और इसका प्रचार तो बहुत थोड़े दिनों से ही हुआ है। किन्तु 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का प्रचलन कब से है, किसी जिज्ञासु का ध्यान आज तक सम्भवतः इस पर नहीं गया। कुछ साल पहले बँगला भाषा में इस बात की छान-बीन की गयी थी और देखा गया था कि बँगला-साहित्य में इसका प्रयोग सब से पहले रवीन्द्रनाथ के पूज्य पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ने किया था। किंतु वहाँ भी यह बात आजतक संदिग्ध ही रह गयी कि इस प्रयोग में उनका आधार क्या था।*

हमें ठीक-ठीक ज्ञात नहीं कि हिन्दी में साहित्य के उद्देश्य की इस सूत्ररूप परिभाषा का किसने कब और किस रूप में प्रयोग किया। किन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि इसका व्यवहार प्राचीन नहीं है। वेदों में, सत्यं शिवं सुन्दरम् का व्यवहार नहीं है। सम्मिलित रूप ही नहीं, तीन में से कोई एक भी शब्द इस में नहीं मिलता। हाँ, तैत्तिरीय

---

* हम हिन्दी-लेखकों का ध्यान इस ओर आकर्षित करना चाहते हैं कि वे इस बात की खोज करें कि हिन्दी में इसका सर्वप्रथम प्रयोग कब और किसने किया। —ले०

उपनिषद् में 'सत्यम्' और 'मांडूक्य' में 'शिवं' का प्रयोग मिलता है। लेकिन 'सुन्दर' का प्रयोग नहीं मिलता। ऋग्वेद में सुन्दरताबोधक चारु, सुदृश आदि शब्द हैं। प्राचीन अभिधानकार अमर सिंह ने अपने कोश में सुन्दर के बहुत-से प्रति शब्द दिये हैं।* जिससे इतना तो अनुमान किया ही जा सकता है कि ऋषियों ने इस शब्द का जहाँ-तहाँ प्रयोग किया होगा और कई पुराणों में, महाभारत में, श्रीमद्भागवत, तन्त्रसार आदि में सुन्दर या इस शब्द का कोई-न कोई पर्यायवाची शब्द व्यवहृत हुआ है।

प्राचीन काल में इन तीनों शब्दों का सम्मिलित रूप कहीं नहीं मिलता। कई लोगों को इस निर्णय पर आना पड़ा है कि यह देन यूरोप की है। विक्तर कजिन नाम के एक विद्वान् की एक पुस्तक है— दि ट्रू दि गुड ऐंड दि ब्यूटीफुल। जर्मन और फ्रांसीसी दर्शन में भी एक साथ इसका उल्लेख है। हो सकता है, जर्मन या फ्रांसीसी दर्शन-शास्त्र अथवा विक्तर कजिन की पुस्तक को देखकर हिन्दी में इसका प्रचलन शुरू हुआ हो।† जो भी हो, इस सम्मिलन की सार्थकता का विवेचन करना ही अभीष्ट है।

भाषा, भाव के और आचरण वृत्ति के पीछे ही आता है। इसलिये यह कहना अनुचित न होगा कि सुन्दर और उसके पर्यायवाची

---

* सुन्दरं रुचिरं चारु सुषमं साधु शोभनं। कान्तं मनोरमं रुच्यं मनोज्ञं मंजु मंजुलम् ॥'

† यह भी सम्भव है कि हिन्दी ने बँगला भाषा से इसे अपनाया हो।

शब्दों के बहुत पहले ही मानव-हृदय में सौन्दर्य-बोध का उदय हुआ। यह भी कहें, तो अत्युक्ति नहीं कि सौन्दर्य-बोध से ही मानव-सभ्यता का विकास हुआ। आवश्यकताओं की वृद्धि तथा उनकी निरन्तर पूर्ति की प्रचेष्टा, यह उपयोगितावादियों का तर्क है। प्रयोजन-बोध की सृष्टि में अभाव की ताड़ना है और इसलिये उसमें हमारा एक स्वार्थ-बोध होता है। किन्तु इस विराट् विश्व-सृष्टि के विषय में ऋषि कह गये हैं—'आनन्द प्राचुर्यात् सृष्टि, न तु अभावात्।' विधाता ने आनन्द के लिये सृष्टि की (आनन्दाध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते''''उपनिषद्) और आनन्द प्रयोजन से सर्वदा परे है। इसमें अभाव-पूर्ति की दासता नहीं हो सकती। आनन्द का मूल रस है, रस की अनुभूति सौन्दर्य से होती है। अतएव विधाता की यह सृष्टि प्रयोजन की नहीं, उसके प्राचुर्य की है। मानव का शिल्प, संगीत या साहित्य-सृष्टि ठीक उसी तरह प्रयोजन की नहीं, प्राचुर्य की है। इसमें अगर उसका प्रयोजन-बोध होता भी है, तो स्थूल नहीं, सूक्ष्मातिसूक्ष्म। यहाँ वह अभाव की ताड़ना, प्रयोजन की दासता से मुक्त होता है।

प्रकृति की इस चातुरी से विश्व के स्तर-स्तर में सुन्दरता का एक चमत्कार है, जिसका मौन आकर्षण प्रतिनियत मानव के मन से प्रकाश का एक आकुल आवेदन करता है। इसीलिए मानव आदि-काल से सुन्दर का उपासक है। सृष्टि में मानव ही सब से पीछे आया। किसी प्रतियोगिता में पीछे आना लज्जा और अपमान की बात होती। किन्तु यहाँ ईश्वर का प्यार सब से अधिक पाने का ही गौरव होता है। ईश्वर ने मानव को पृथ्वी पर तब भेजा, जब पृथ्वी उसके प्रयोजन और

प्रयोजन के परे के आनन्द-दान की सामग्रियों से सुसज्जित हो चुकी थी। मानव आया और मुग्ध हो गया यहाँ की सुन्दरता पर।

सभ्यता के प्रथम प्रभात में जो किरणें चमकीं, उनमें मानव के सौन्दर्य-बोध की देन कम महत्त्वपूर्ण नहीं। मनुष्य निरन्तर गतिशील है। आज उसकी सभ्यता मध्याह्न के खरोज्वल रवि-किरणों से समुद्भासित है। उसका सौन्दर्य-बोध भी आज सुविकसित है। सभ्यता के उस आदियुग मे मनुष्य की सौन्दर्य-भावना जैसी भी रही हो, थी जरूर। प्राचीन सभ्य देशों का इतिहास, उनकी अवशिष्ट निधियाँ बताती हैं कि सौन्दर्य-साधना मनुष्यों का स्वभाव है। मिश्र में तूतेन-खामेन की खोदाई और पिरामिडों के अन्तर्रहस्य के उद्घाटन से प्राचीन-काल की सौन्दर्य-भावना का प्रमाण मिल चुका है। राजा मेंफिस की कब्र में देखा गया है कि सौन्दर्य-वृद्धि के लिए वे आँखें आँजते थे। महल की स्त्रियाँ भवों के बालों को साफ करके सौन्दर्य-साधन के लिए एक खास तरह के कीड़ों से हरा रंग तैयार करके लगाती थीं। पुराने वस्त्राभूषण, मिट्टी के बर्तन आदि में तत्कालीन चित्रकारी देखने योग्य है। अटलांटिक महासागर में जिस प्राचीन द्वीप एटलांटिस का लय हो चुका है, उसकी सौन्दर्य-साधना के बहुतेरे नमूने मिल चुके हैं। बेबिलोन की स्त्रियाँ गाढ़े बैंजनी रंग का आँजन आँखों में लगाती थीं। प्राचीन ग्रीस और भारत की सौन्दर्य-साधना सर्वविदित है। ग्रीस के एक विचित्र मृत-पात्र पर कीट्स की 'ग्रेसियन अर्न' कविता की पंक्तियाँ अमर हो चुकी हैं।

मानव की सौन्दर्य-साधना ही कला और साहित्य-सृष्टि का मूल

है। अमूर्त को मूर्त करना, अरूप को रूप देना ही सौन्दर्य-साधना है, जिससे रस की उपलब्धि होती है। रस और आनन्द बहुत स्थानों में एकार्थक शब्द की तरह प्रयुक्त होते हैं—क्योंकि दोनों ही आस्वादन की वस्तु हैं। रस अनुभूति का विषय है। विराट् वस्तु-सत्ता से आत्मा जो आनन्द आहरण करती है, वही रस है। रस वस्तुगत होता है, भावगत भी। साहित्य का मूल-मन्त्र रस-सृष्टि या आनन्द-दान है। इसीलिए साहित्यिक को रसस्रष्टा भी कहते हैं। रसमय वाक्य ही साहित्य की व्याख्या है। अगर मधुर न हो, रसमय न हो तो साहित्य ही नहीं। 'काव्यादर्श' में दण्डी ने कहा है—"रस से ही कोई वस्तु मधुर होती है। वाक्य और वस्तु में रस होता है। मधु से मधुकर जैसे उन्मत्त होते हैं, रस से वैसे ही धीमान व्यक्ति मतवाले होते हैं।"*

साहित्य का तत्त्व है रस और इस तत्त्व को रूप देने में मनुष्य की सौन्दर्यानुभूति काम करती है। इस अनुभूति की श्रेष्ठता पर ऋषि टॉल्सटॉय कह गये हैं—'सौन्दर्यानुभव से बढ़कर जीवन में और कुछ नहीं। × × सारा संसार दुःखमय है। सौन्दर्य ही एक ऐसा है, जिसमें इच्छा पर—जो संसार का कारण है, हम विजय पा सकते हैं। अशान्ति और विग्रह का इसीमें अन्त हो जाता है। जो सौन्दर्य में निमग्न हो जाता है, उसे कोई इच्छा नहीं रह जाती।"

साहित्य के आनन्द-प्रस्रवण में एक सर्वथा विरोधी बात है। वह

---

* "मधुरं रसवत् वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः॥"

यह कि सब समय हमारी सुखानुभूति ही हमारे आनन्द का कारण नहीं होती। दुःख-शोक की छाया में भी हमारे लिये आनन्द की निधि सुरक्षित रहती है। इसीलिये, साहित्य का रूप-तत्त्व भी हमारे स्वाभाविक सौन्दर्य-बोध पर आघात करता है। वास्तव जीवन में जो वस्तु हमारी आँखों को असुन्दर और वीभत्स लगती है, साहित्य के दरबार में उसीमें हम एक अवर्णनीय सौन्दर्य का आभास पाते हैं। कोढ़-से गले एक जीर्ण-चिथड़ों में लिपटे भिखमंगे को हम कभी सुन्दर नहीं कह सकते, किन्तु चित्र, मूर्त्ति या काव्य में उसकी यह मूर्त्ति अनन्य सुन्दर होकर हमारे सामने आती है। कला की दृष्टि से संसार में भगवान् बुद्ध की जो मूर्त्तियाँ मूल्यवान हैं, वे तपःक्लिष्ट बुद्ध की मूर्त्तियाँ हैं। इसमें रूप का उपादान शरीर-विज्ञान नहीं, अन्तर का भाव है। इसमें बुद्ध के आजीवन-तप की प्राप्ति 'शान्ति' उनके चेहरे पर प्रस्फुटित हुई है। इस सौन्दर्य-दर्शन के लिये अन्तर्दृष्टि अपेक्षित है।

वास्तव में सौन्दर्य कोई आधारगत वस्तु नहीं, यह एक मानसिक अवस्था है। इसकी सब से अच्छी परिभाषा यही हो सकती है—जो हमारे मन को अच्छा लगे। इसीलिये आकृतिगत सौन्दर्य की दृष्टि में हम विभिन्नता पाते हैं। चीन के लोगों में यह प्रथा है कि बच्चियों को शुरू ही में लोहे का जूता पहना देते हैं, ताकि उनके पाँव बड़े न हों, क्योंकि छोटे पाँव ही वहाँ सुन्दर समझे जाते हैं। कहीं सुनहले बालों की प्रशंसा होती है, तो कहीं घने काले बालों की। किन्तु जिस सौन्दर्य का सम्बन्ध भाव से होता है, मानव-मन की क्षमा, करुणा,

प्रेम, त्याग आदि प्रवृत्तियों से होता है, वह सार्वदेशिक सौन्दर्य होता है। धार्मिक या लौकिक आदर्शगत सौन्दर्य भी सार्वदेशिक नहीं होता। वास्तव में सुन्दर तो वह है, जिसमें चेतन की अमूर्त्त की, भाव की विजय हो। ब्रह्म बिल्कुल चेतन अमूर्त्त और भावमय है, इसलिये वह सब से बढ़कर सुन्दर है। इसीलिये जो वास्तव में सुन्दर है, वह सत्य भी है, कल्याणमय भी है। परमात्मा के तीनों रूप हैं, ब्रह्मा, विष्णु, महेश। वह जन्मदाता, पालनकर्त्ता और संहारकर्त्ता है। उसे अगर सत्य कहा जाय, तो वह शिव-सुन्दर भी है, शिव कहा जाय, तो सत्य-सुन्दर भी। इन तीनों का ऐसा अन्योन्याश्रय संबंध है, कि किसी भी प्रक्रिया से अलग-अलग नहीं देखे जा सकते।

सत, रज, तम—इन तीन गुणों से मानव-प्रकृति का निर्माण हुआ है। किन्तु किसी मिक्श्चर की मिली हुई दवाइयों की तरह इसके परिमाण को मापना सम्भव भी हो सके तो हम ऐसा नहीं कर सकते। हम टुकड़ों में अखण्ड को बाँटकर देखने के आदी नहीं—गो कि अखण्ड में असंख्य टुकड़े मिलित हो सकते हैं। हम अपने किसी परिचित आदमी को इस रूप में विभाजित कर के नहीं देखते कि इस पर हमारी इतनी आस्था इसके रूप से मोहित होकर, इतनी इसके ज्ञान से चमत्कृत होकर और इतनी इसके कार्य से सन्तुष्ट होकर है। हम तो उस आस्था का रूप ही अखण्ड मानते हैं!

मनुष्यमात्र के अन्तःकरण की तीन प्रवृत्तियाँ हैं—(अ) सौन्दर्योपासक प्रवृत्ति (ऐस्थेटिक), साधारणतया यह वृत्ति गुण द्वारा रक्षित होती है। (आ) दूसरी प्रवृत्ति है, जो ठीक इसका उल्टा उत्तर देती

है। अंग्रेजी में उसे 'विल मोरल फेकल्टी' कहते हैं। इसका विषय है शिव अर्थात् कल्याण और (इ) तीसरी प्रवृत्ति है सत्यान्वेषी। यह मनुष्य का ज्ञान (इनटेलेक्चुअल फेकल्टी) है, जो उपर्युक्त दोनों वृत्तियों से अलग गुण और कार्य का निरीक्षण और विचार करता है। अब इन तीनों प्रवृत्तियों के अलग होते हुए भी इन्हें अलग-अलग देखना सम्भव नहीं। बिना कारण के कार्य नहीं होता, न कार्य के बिना ही कारण हो सकता है। इस प्रकार उपर्युक्त तीनों प्रवृत्तियों में हम किसी को गौण नहीं कह सकते। सब की एक-सी प्रधानता है और जहाँ एक का अस्तित्व है, वहाँ बाकी दोनों आप ही आप आ जाती हैं। इसलिये सत्य शिव सुन्दर का भी सम्बन्ध अङ्गांगी है, उसके एक को हृदयङ्गम करने का अर्थ ही तीनों को साथ हृदयङ्गम करना होता है। सत्य, सुन्दर और शिव से अलग नहीं।

अब देखना है, जीवन की सौन्दर्य-साधना से शिव, सुन्दर का सामञ्जस्य कैसे होता है।

बङ्गाल के महाकवि चण्डीदास ने कहा है—

शुनह मानुष भाइ
सबार ऊपर मानुष सत्य,
ताहार ऊपर नाइ।

अर्थात्, भाइयो, सुनो, मनुष्य ही सर्वोपरि सत्य है। इससे बड़ा सत्य और कुछ नहीं। प्रोटागोरस ने भी ठीक यही बात कही है। 'मनुष्य सत्य का चरम मापदण्ड है।* और मनुष्य सत्य का ही

* मैन इज़ दि स्टैंडर्ड ऑव ट्रूथ।

नहीं, सौन्दर्य का भी मापदण्ड है', यह बात होलवैक ने कही है।†
इस प्रकार हम देखते हैं कि सौन्दर्य-साधना ही सत्य की साधना है।
अंग्रेज कवि कीट्स ने सत्य को ही सुन्दर, सुन्दर को ही सत्य कहा है।
और हम देखते हैं कि हमारे यहाँ जो रूप की देवी है—श्री—वह
एक साथ ही कल्याण और सत्य की भी देवी है।

जीवन का प्रत्येक प्रयास परिपूर्णता की कामना है। जीवन निरन्तर विकासोन्मुख, सतत गतिशील है। क्योंकि जीवन अपूर्ण है। कली विकसित होकर झड़ जाती है। पूर्ण विकाश अन्त है, शान्ति है। उपनिषद् के अनुसार हम मिथ्या से सत्य की ओर, मृत्यु से अमृत की ओर, अन्धकार से आलोक की ओर जाना चाहते हैं। यही हमारे जीवन का उद्देश्य है। जिस दिन मानव को, जीवन को अपने लक्ष्य की प्राप्ति होगी, उसी दिन उसका वेग, उसकी चञ्चलता नष्ट हो जायगी। नदी जब अनन्त समुद्र में जा मिलती है, तो उस अनन्त जलराशि में अपने तुच्छ उद्दाम गति को लय कर देती है।

मनुष्य की सौन्दर्य-साधना उसे कहाँ ले जाती है? उसकी इस सौन्दर्य-साधना का उद्देश्य क्या है? हेगेल का कहना है—'जड़ द्वारा चेतन को व्यक्त करना या मूर्त्त द्वारा अमूर्त्त को प्रकट करना ही सौन्दर्य-शास्त्र का मूलमन्त्र है।' लेकिन साधना का साध्य यह अमूर्त्त, यह चेतन क्या है। यही है 'आनन्दरूपं मृतं'। जो कुछ प्रत्यक्ष है, सब उसका आनन्दरूप, अमृत रूप है। विधाता को जानने के

† मैन इज़ दि स्टैंडर्ड ऑव वर्च्यु।

लिए उसके विधान के सौन्दर्य का आहरण करना परमावश्यक है। और जब यह सौन्दर्याहरण पूर्णता को पहुँचता है, तो उससे उस रस की सृष्टि होती है, जो यहाँ का नहीं, जो 'न तत्र सूर्योभाति न चन्द्र-तारकं'—'अमृतं शाश्वतं नित्यं मनन्तं परमं पदम्'—धारा होकर स्वर्गङ्गा की तरह वहीं से बरस पड़ा है। यही शिल्प-साहित्य का रस है। ऋषि ने गाया है, रसो वै सः, वे रस रूप हैं, इसी रस की प्राप्ति से मनुष्य को आनन्द-लाभ होता है।

परिपूर्ण सौन्दर्य ही सत्यं शिवं सुन्दरम् है। रवीन्द्रनाथ ने लिखा है—'सौन्दर्य जिस स्थान पर पूर्ण विकसित होता है, वहाँ अपनी प्रगल्भता को छोड़ देता है। वहीं पर फूल अपनी वर्णगंध की अधिकता को फल की गम्भीरता और मधुरता में परिणत कर देता है और उसी परिणति में ही, उसी चरम विकास में ही—सौन्दर्य और मङ्गल का मिलाप हो जाता है।' इस लक्ष्य पर आकर सुन्दरम् शान्तं की आख्या पाता है, इसमें परिपूर्णता की एक निविड़ और सौम्य शान्ति विराजा करती है। इस प्रकार शान्तं ही सुन्दरं और सुन्दरं ही शान्तं चाहे न हो, लेकिन उसका आदि और अवसान शान्ति से ही होता है। शान्त में विपुलता चाहे न हो, महानता होती है। वह विपुल के बजाय बृहत् होता है। चरम सौन्दर्य का अनिवार्य उपादान निविड़ शान्ति है और हृदय के भाव का आदि शान्त रस है। शांत रस ही मूल राग है। शिल्प की सम्पूर्ण महत् सृष्टि में महाशान्ति है, यही उसकी महानता है।

स्वभावतया एक प्रश्न हो सकता है कि पूर्णता या सत्य की प्राप्ति

ही जब जीवन का एक मात्र उद्देश्य है, तो सत्य या शिव की उपासना ही क्यों नहीं होती, सुन्दर की साधना क्यों होती है? प्रश्न विचारणीय है। वस्तुतः मनुष्य की चिरकांक्षित वस्तु कल्याण है, कल्याण को दूसरे शब्दों में शान्ति या परिपूर्णता कह सकते हैं। जीवन में मनुष्य सत्य का अन्वेषण करता है, किन्तु सत्य ज्ञान का विषय है और ज्ञान के आलोक में सत्य के नित नये-नये रूप प्रकाश में आते हैं। मनुष्य का मन अनन्त सत्य को पकड़ नहीं पाता। शिव के अनुसन्धान में भी मनुष्य अपने को असमर्थ पाता है। पूर्ण कल्याण के आदर्श को हृदय में उपलब्ध करने की क्षमता उसे चाहे हो, जीवन में उस पूर्णता को वह रूप नहीं दे पाता। यही दशा सौन्दर्य में भी मनुष्य की होती है। अनन्त सौन्दर्य को रूप देना मनुष्य के साध्यातीत है। किन्तु जिस अनन्त शिव, सत्य और सुन्दर का उसे आभास मिलता है, मनुष्य उसीकी साधना करता है। यही आभास ईश्वर का है। यह आध्यात्मिकता भारत की निजी विशेषता है। पश्चिम की शिल्प-सृष्टि में हम अपूर्णता के कठोर बन्धन से मुक्त होने का जो संग्राम देखते हैं; वह अपूर्णता के आधार से होता है। और भारत को पूर्णता की प्रेरणा पूर्णता से ही मिलती है। उस पूर्णता की प्राप्ति के लिये भारत ने सुन्दर की पूजा की और भक्ति का अर्घ्य दिया। दूसरे देशों के लोगों ने जीवन और प्रकृति से सौन्दर्य का आदर्श ग्रहण किया और भारत ने अध्यात्म से। वैष्णव कवियों ने ईश्वर को सर्वाङ्ग सुन्दर रूप दिया और प्रेम द्वारा उसे पाने की साधना की। उन्होंने राजा-प्रजा का रूप, उपास्य-उपासक का रूप, देवता-पुजारी का

रूप नहीं चुना, राधा कृष्ण के रूप में प्रेम द्वारा एकात्मता बोध का सहज मार्ग निकाला। सौन्दर्योपासना हमें सहज ही सत्य के पास पहुँचा सकती है। वैष्णव-काव्य पर लिखते हुए न्यूमैन साहब ने लिखा है—'यदि तुम्हारी आत्मा ऊँचे धर्मराज्य की पवित्रता में प्रवेश करना चाहती हो, तो उसे नारी-वेश में जाना होगा। मनुष्य-समाज में तुम्हें पुरुषाकार का चाहे जितना भी गर्व हो, इसके लिए आत्मा को रमणीवेश के अतिरिक्त उपाय नहीं।' इसी कारण हम देखते हैं कि ज्ञान और कर्म के अतिरिक्त मनुष्यों ने अपने सौंदर्य-बोध से विश्व को आनन्द के रूप में उपलब्ध करना सीखा है। उसके जीवन में—प्रत्येक कार्य में ज्ञान और कर्म के साथ सुन्दरम् का समन्वय अवश्य होता है।

साहित्यकार की समस्याएँ

गेहूँ की पैदावार तो शायद बढ़ भी गयी हो, पर रोटी के सवाल का वही सनातन रूप है। वह एक-एक के और सबके साथ लगा है। सच तो यह है कि यह सवाल ही ऐसा है, जो सब का और सब दिन का है, बल्कि रोज़-रोज का है। कोई चाहे भी तो महज एक दिन बैठकर रोजी के इम्तहान में पास-फेल नहीं हो सकता। हर इन्सान को अपनी आखिरी सांस तक रोटी के मसले को हल करने के लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक करना पड़ता है। बेचारे साहित्यिक भी तो और लोगों के समान हाड़-मांस के पुतले ही हैं। उनकी भावनाएं कल्पना के पङ्खों पर नीहारिका जगत् के पार भले ही जाती हों, उनकी अन्तर्दृष्टि सूरज की किरणों से ज्यादा तेज भले ही चलती हो, उनके चिन्तन की अमरलता में स्वर्गीय सपनों के फूल भले ही लगते हों यह सब कुछ सम्भव है, मगर यह एकबारगी असम्भव है कि उन्हें अन्न-वस्त्र की चिन्ता नहीं छूती हो। अन्य अनेक असाधारणताओं के बावजूद नोन-तेल-लकड़ी की सनातन समस्या में साहित्यिक भी अन्य दस लोगों जैसे साधारण प्राणी हैं। उन्हें भी भूख लगती है, जिन्दगी की और जरूरतें उन्हें भी हैं। जीवन की इस कठोर वास्तविकता को अंगूठा दिखाकर निकाला नहीं जा सकता। यों पैसों को हम जीवन हर्गिज नहीं मानते, धनलिप्सुओं की तरह पैसों को हम भगवान का आसन भी नहीं देते, लेकिन पारिवारिक उत्तरदायित्वों के निर्वाह के लिए जिन्दगी को जीने के लिए पैसे को एक साधन

मानते हैं। इसीलिए समझते हैं कि साहित्यिकों को आजीविका के लिए अर्थोपार्जन की समस्या को सुलझाना ही पड़ेगा।

लक्ष्मी और सरस्वती यों तो रिश्ते में बहनें होती हैं, किन्तु आपसी व्यवहार में उन्होंने सौत को भी मात दे दी है, ऐसी धारणा लगभग विश्वास बन गयी है। और देश में अब तो शायद लंगोटी पर फाग खेलने वाले साहित्यकार नहीं मिलेंगे, किन्तु भारत में आज भी ऐसे ही साहित्यकारों की अधिकता है, जिनकी जिन्दगी दरिद्रता के बोझ से दबी हुई है, धरती उनके लिये नर्क हो गयी है। आखिर यह कणाद का देश जो ठहरा, जो खेतों से दाने बीनकर पेट भरता था और अमर रचना करता था। 'स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा' का देश यही है। यहीं चन्द दिन पहले कथा के जादूगर प्रेमचन्द हुए, जो एक हलवाई से आठ आने का उधार खा गये थे और चुकाने की लाचारी से बरसों उस राह चलना छोड़ दिया था! यहीं कहानीकार सुदर्शन हैं, जिन्हें सिनेमा में जाने के पहले रोटियों के लाले थे। एक बार मित्रों की जलपान-गोष्ठी से बेचारा भूखे बच्चों के लिये कचौरियाँ उठा लाया था। यहीं पैसे के लिये कई बार लेखकों को अपनी कृति दूसरों के नाम से छपानी पड़ती है। गिनाये जायँ तो ऐसे पुरदर्द किस्से हजारों हैं, आँसुओं का यह इतिहास बड़ा लम्बा है। मगर सोचना तो यह है कि जो साहित्यकार सारे समाज को पुष्ट मानसिक भोजन परोसता है, समाज को उठाता-गिराता है और इससे भी बड़े-बड़े लाम-काफ करता है, वह इतना हीन और दीन क्यों है कि अपने छोटे से परिवार का भरण-पोषण भी उसके लिए भार है,

वह इतना असमर्थ क्यों है कि मनुष्य की तरह महज मामूली तौर से दुनिया में जी भी नहीं सकता ?

आप समाज की साहित्यिक चेतना के अभाव का रोना रोयेंगे, अपने संजीवनीदाता एवं उन्नायकों के प्रति उसकी गैर-जिम्मेदारी का जिक्र करेंगे। एक हद तक बात है भी सही। साहित्य और साहित्यिक के प्रति समाज से जबानी जमा-खर्च चाहे जितना ले लीजिये, उनकी समस्याओं से उन्हें सच्ची हमदर्दी तो हर्गिज नहीं है। यदि होती, तो साहित्कारों को रोटी के लिये महायुद्ध की परेशानी तो नहीं ही उठानी पड़ती। समाज वकील की सलाह फीस देकर लेता है, चिकित्सक की मंत्रणा का दाम देता है, मगर कवि की कविता एक प्याली चाय पर सुनने का आदी है। बेटी के व्याह का काव्योपहार मुफ्त में लिखाता है। लेखक की किताब मङ्गनी मांग कर पढ़ता है (अव्वल तो पढ़ता ही नहीं)। दूसरे शब्दों में यों कहिये कि साहित्यिकता घोड़े की घास से यारी जैसी एक मूर्खता है। मेरी समझ में यह तो और भी वाहियात बात है कि लेखक उच्चादर्श के दिखावे में साहित्य-रचना को जीवन तो कहे, पर उसे जीविका कहने में हिचकिचाये। ऊख के छिलके ही उसके रस को तपाने में जलावन का काम देते हैं। यदि ऐसा न होता, तो चीनी तैयार करना एक कठिन समस्या होती। उसी तरह साहित्य ही जब तक साहित्यकारों की जीविका उपार्जन का साधन नहीं हो जाता, तब तक साहित्यकारों के भाग्य के घड़े का छेद तो नहीं ही भरेगा, साहित्य का भी दुर्भाग्य जानिये। कोई साहित्यिक यदि अपने पेट पालने के निमित्त साहित्य-

नींव में लग चुके हैं। उन्हीं के लोहू से इसकी दीवारों की जोड़ाई हुई है, उन्हीं के पसीने से इस भवन का निर्माण हुआ है। यह तो मानना ही होगा कि हिन्दी में कुछ दिन पहले साहित्य-सेवा जितना बड़ा अभिशाप था, अब उतना बड़ा नहीं रह गया है। अब यदि जीविका के मामले में साहित्य-सेवा पर सम्पूर्ण निर्भर नहीं रहा जा सकता, तो कुछ तो सहारा मिलता ही है। केवल देवता और धर्म के नाम पर रचनाओं की दोनों हाथों खैरात अब नहीं लुटायी जाती। बदले में अब पत्र-पुष्प पर लोग उतर आये हैं। शिक्षा की व्यवस्था बढ़ रही है और साहित्य की अवस्था सुधर रही है। इसे देखकर इतनी आशा तो जरूर बँधती है कि हमारे लगाये पेड़ के फल से हम नहीं भी अघाएँ, तो हमारे बाल-बच्चों को हवा पीकर जीने की नौबत नहीं आयेगी। विदेशों के साहित्यिकों के वैभव-विलास को देखकर हिन्दी के साहित्यकार सिहाते हैं। साहित्य ने बहुतों को धनकुबेर बनाया है, बहुतों को स्वर्गोपम सुख-सुविधाएँ दी हैं। किन्तु यह कुछ छू-मन्तर से थोड़े ही हुआ है। उन्हीं देशों में अनेक स्वनाम-धन्य साहित्यकों को इसके पहले फाके करने पड़ते थे। आज उन्हे रचनाओं के लिए हजारों-हजार रुपए मिल जाते हैं, इसके पीछे उनकी निश्चित योजना रही थी और उनका भरपूर उद्यम लगा था। हिन्दी के साहित्यकारों ने इस पहलू पर कभी विचार ही नहीं किया। जब तक यश का लोभ उनसे बेगारी करा सका, करते रहे, जब भूख के थपेड़े ने, जीवन की यथार्थताओं ने उन्हें धक्के दिये, तो सेवा को सलाम करके मैदान छोड़ भागे। अगर इस दिशा में कभी कोई

प्रयास हुआ भी, तो निरा वैयक्तिक प्रयास, संघबद्ध होकर या सामूहिक तौर पर नहीं। किसी लेखक ने अपना प्रकाशन खोल दिया और पतलून की ताक में लंगोटी भी गंवा बैठे। किसी ने अपना एक पत्र निकाल दिया, दो दिन के बाद उन्हें भूतपूर्व सम्पादक बनाकर पत्र डूब गया। चन्दे की रकम बटोरकर कोई सार्वजनिक साहित्यिक कार्य किया और उसका बंटाढार कर दिया। लोगों का रहा-सहा विश्वास भी उठ गया। इस प्रकार हम देखें, तो पायेंगे कि इस उद्देश्य की असफलता में हमारा कुछ कम गुनाह नहीं है, हमारी कुछ कम उपेक्षा नहीं है।

इस युग में संघ की ही शक्ति है। आठ कनौजिया नौ चूल्हा की बात हमने सुनी भर थी, उसका रूप हम साहित्यकारों में ही हम पा रहे हैं। आज सबकी अपनी एक संस्था है, संघ है, संगठन है। मगर आप पायेंगे कि लेखकों का कोई संगठन नहीं। ये मिलकर अपनी समस्याओं पर विचार नहीं कर सकते, मिलकर उनका समाधान तो नहीं ही कर सकते। अगर समग्र भारत के साहित्यिकों की एक सबल संस्था हो, वह संस्था लेखक-समाज के अधिकारों के लिये सजग, उसकी उन्नति के लिए जागरुक हो, तो फिर क्या अड़चन है कि हमारी मनचाही न हो। वह संस्था ही, प्रकाशन, प्रसार और वितरण का भार ले, लेखकों को उचित पारिश्रमिक दे और दिलाये, दुख विपद में अर्थ और श्रम से उनकी सहायता करे, एवं प्रकाशकों के शोषण से साहित्यिक बन्धुओं को बचाये, जिसका जो यथोचित सम्मान हो, वह दिलाये। ऐसी छोटी-मोटी योजनायें तो कई सामने आयीं।

लेखक संघ, पत्रकार संघ, साहित्यिक संघ जैसी संस्थायें भी इन्हीं पावन उद्देश्यों को सामने रखकर जन्मीं, पर कुछ अकाल ही काल-कवलित हुईं, कुछ नाम लेने भर को जी रही हैं। यह हमारी अपनी उदासीनता, अक्षमता और उपेक्षा का नतीजा है। और इसके जो दुष्परिणाम होने चाहिये, वे हो रहे हैं। पूंजीपतियों के हथकण्डे जारी हैं, प्रकाशकों की ठगी चल रही है, शोषण जारी है, इसका अन्त आवश्यक है, और जबर्दस्त संगठन नितान्त जरूरी है, जिसमें केवल योजनायें ही न हों, उन्हें कार्यरूप में लाने की तत्परता भी हो।

आज जब "निराला" जी की चिकित्सा और सेवा भी दुर्लभ हो गयी है, जिसने सव्यसाची की तरह बिना रुके आज तक साहित्य की सेवा की, गद्य-पद्य के अनेक मूल्यवान् ग्रन्थों से भारती के भण्डार को भर दिया, आज क्या उनकी कृतियों की इतनी मामूली रायल्टी भी नहीं आ सकती कि उनके बुढ़ापे का सहारा हो और ऐसे साहित्यकारों की तो बात ही जाने दीजिये, जिन बेचारों को अपील निकालने के पहले ही दम तोड़ना पड़ता है। जो अल्प भोजन और अत्यधिक श्रम से यक्ष्मा के शिकार होकर बिना इलाज के मरते हैं और बाद उनके, उनके बच्चों को यतीमखाने में भी जगह नहीं मिलती। यह खुद हमारे लिए शर्म की बात है कि दुनिया भर के ज्ञान-चक्षुओं को खोलनेवाले हम अपने आपको नहीं देख पाते। मरी जाति को संजीवनी देकर जिलाने वाले हम जीना भी नहीं जानते। चिराग तले अँधेरा और कहते किसे हैं?

जमाने ने करवट बदली है। साहित्य के लिए विस्तृत क्षेत्र

तैयार हो रहा है, इसलिए साहित्यिकों के आसार अच्छे होने चाहिए। अब हमें अपने दम के भरोसे रास्ते के रोड़ों को दूर कर मंजिल तक अच्छी राह तैयार करनी है। देश साहित्य के मूल्य को समझने लगा है। उसकी नजर में साहित्य अब महज मनोरंजन की चीज नहीं, जीवन के लिए एक अनिवार्य वस्तु है। देश उसका मूल्य और मान दोनों ही देने को तैयार है। लेकिन आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने आपको अपने प्राप्य का अधिकारी बना लें। आज सम्मिलित रूप से इन विचारणीय प्रश्नों पर विचार करना जरूरी है और साहित्यिकों के इस सनातन प्रश्न का समाधान भी ढूँढ़ निकालना है।

बहुत बातों में हम विदेश की नकल करते हैं, और वह नकल ज्यादातर तो थोथी बातों की ही होती है। इस दिशा में हम विदेशी साहित्यकारों से बहुत बड़ा सबक ले सकते हैं कि उन्होंने किस प्रकार परिस्थितियों से जूझकर अर्थोपार्जन की समस्या का आसान हल निकाल लिया। वे महज एक कृति से लखपती बनते देखे जाते हैं, उनकी एक पुस्तक की लाखों-लाख प्रतियाँ बिक जाती हैं, दर्जनों भाषाओं में उनके अनुवाद निकल जाते हैं। पहले उन्हें अपने प्रकाशकों से क्या-क्या शिकायतें रही थीं, पता नहीं, अब तो लेखक प्रकाशक का सम्बन्ध सद्भाव पर प्रतिष्ठित है। प्रकाशक लेखकों पर जीते भी हैं, उन्हें जिलाते भी हैं। उनकी कृतियों का सुचारु संस्करण निकालते हैं, हद से ज्यादा प्रचार की हर कोशिश करते हैं, लेखकों को मुँह मांगा दाम भी देते हैं, नाम भी दिलाते हैं। यहाँ साहित्य

की श्रीवृद्धि के इन दो मुख्यतम स्तम्भों में मेल ही नहीं। प्रकाशक सस्ता सौदा करना चाहते हैं, रद्दी छापते हैं और छापकर उनका प्रचार नहीं करते। लेखक कम पैसा पाने के दुःख से रचना में जी नहीं लगाते और बेगार टाल देते हैं। नतीजा यह होता है कि दोनों का अहित तो होता ही है, साहित्य की तो महान् क्षति हो जाती है। हिन्दी-संसार से इस घातक दुरवस्था को दूर कर देना जरूरी है। मैं समझता हूँ, परिस्थितियों का रोना वाजिब नहीं। यों तो युग बदलता ही रहता है। समय पर स्वयं ही ऐसा समय आ सकता है, जब ये शिकायतें आप ही दूर हो जायँ। पर इससे हमारे जीवट में बट्टा है। जमाने को बदलना ही एक बात है। यह तो हमारा पक्का विश्वास है कि वह दिन आने वाला है जब आर्थिक कठिनाई का रोना साहित्यिकों को नहीं रोना पड़ेगा। किन्तु यदि इस स्थिति को हम खुद नहीं बना सके, तो यह ग्लानि सब प्रकार से अपनी है। हमें अपने को संगठित करना है, साहित्य की प्रगति और अपनी जीविका के बीच आने वाले रोड़ों को दूर करने के लिये जमकर संघर्ष करना है। केवल शिकवा-शिकायत से और लेख तथा भाषणों में विचार प्रकट करने से यह काम नहीं हो सकता। इसके लिए अदम्य उत्साह और अप्रतिहत उद्योग की आवश्यकता है।

साहित्य का ज्ञानयोग

आचार्य शुक्ल ने काव्यानुशीलन को भावयोग कहा है हम उसे ज्ञानयोग कहेंगे। साहित्य एक स्वतन्त्र सृष्टि है, जैसी कि विधाता की सृष्टि। ऐतरेयब्राह्मण में विधाता की रचना को देवशिल्प कहा गया है और मनुष्य की सृष्टि यानी शिल्प के लिए कहा गया है—'एतेषाम् वैशिल्पानाम् अनुकृति।' इस अनुकृति को कई लोग नकल भी कहें शायद। लेकिन अभिप्राय वास्तव में नकल का नहीं है। कहा ऐसा गया है कि जैसे बिना किसी आधार की अपेक्षा किये ही विधाता के मन की आनन्दमय अभिव्यक्ति यह देवशिल्प है, वैसा ही मानुषी शिल्प हो। विधाता की सृष्टि का कोई पूर्वरूप नहीं था, उसने सर्वथा मौलिक ही सृष्टि की। इसलिए यहाँ अनुकृति का मतलब नकल या अनुकरण नहीं है, 'वैसे ही' या 'उसी तरह' से समझना होगा।

साहित्य-सर्जन की एक विशेषता है। साहित्य वस्तु का भाव-प्रकाश नहीं, रूप-विधान करता है। संक्षेप में हम उसे भाव की वाङ्मयी मूर्त्ति कह सकते हैं; क्योंकि मूर्त्ति-विधान के आधार शब्द या वाक्य ही हुआ करते हैं। आधार होने पर भी ये शब्द और वाक्य न तो कोई अर्थ देते हैं, न कोई निर्देश। उनका काम केवल रूप का प्रकाश ही होता है। उदाहरण के लिए किसी प्राकृतिक दृश्य की बात ली जाय। दृश्य के कोई भाषा नहीं होती। देखनेवाले से वह कुछ कहा नहीं करता। उसकी सार्थकता तो बस इसी बात

में है कि औरों के हृदय में वह अपनी प्रतीति करा लेता है। वाक्यों में साहित्य की जो रूप-रचना है, वह ऐसी ही होती है। यों शब्द अर्थबोधक और भावोद्बोधक होते हैं; पर ऐसी वाक्यावली से अन्य बहुत-कुछ रचित होता है, साहित्य नहीं। ऐसे अर्थ और निर्देश से जो होता है, वह परोक्ष ही होता है। सच्चे साहित्य में शब्द कुछ बोलते नहीं, वस्तु को प्रत्यक्ष कर दिया करते हैं। कवि का अन्तर्दर्शन औरों के आगे स्पष्ट और प्रत्यक्ष रूप लेता है, किसी को समझाने की आवश्यकता नहीं होती। स्वयं जैसा देखना, औरों को ठीक वैसा ही दिखाना, यह जादू केवल साहित्य के ही हाथ लगा है। विज्ञान और दर्शन युक्ति-तर्क के जाल में उलझते-उलझाते हैं। भक्ति के भावयोग में उपासना या ध्यान से सत्य की मूर्त्ति की सन्निधि सम्भव होती है; परन्तु वह सामीप्य भक्त या उपासक तक ही सीमित होता है, औरों के लिए भी उसे वैसा ही प्रत्यक्ष-गोचर करना अथवा औरों में भी उसे उसी तरह संक्रामित करना साध्य नहीं होता। कवि या स्रष्टा ही एकमात्र इस दुर्लभ सौभाग्य का अधिकारी है कि वह स्वयं जो देखता है, औरों को भी वह दिखा सकता है। इसीलिए हमने साहित्य को ज्ञानयोग कहा है। यदि कहें, यही प्रकृत और श्रेष्ठ ज्ञानयोग है, तो भी भूल नहीं होगी शायद।

सारांश यह निकला कि साहित्य वास्तव में भाव की नहीं, रूप की भाषा है। इसमें भाव को जबान नहीं दी जाती, बल्कि उसे वाणी-रूप दिया जाता है। फलतः भाव और रूप दोनों दो परस्पर-विरोधी वस्तुएँ हो जाती हैं। इसलिए भाव की प्रकृति को समझ लेना आव-

श्यक है। भावकी मूलतः दो जातियाँ हैं। पहली जाति का भाव वह है, जो बाह्य जगत् और मन के आपसी संसर्ग से या तो केवल मन में उदय होकर रह जाता है, या मन में उदय होकर बाहर जगत् पर आरोपित होता है। इ जा त के भाव में संचरण-शक्ति नहीं होती, लिहाजा वह हमारी अनुभव की पूँजी में शामिल हो जाता है। ऐसे भाव को हम निष्क्रिय चिन्तन या धारणा भी कह सकते हैं। दूसरी जाति का जो भाव है, उसके दो प्रकार हैं—अन्तर्मुखी भाव और बहिर्मुखी भाव। अन्तर्मुखी पहली जाति के भाव का सगोत्र है क्रियारूप में और भिन्न है स्वभाव में कि वह अन्तःकरण की उस प्रवृत्ति का परिचायक होता है, जिसे हम रस-जिज्ञासु प्रवृत्ति कहते हैं। वह विशुद्ध भावमार्गी या संग्राहक होता है। उसे रस या आनन्द की मात्र धारणा होती है। किन्तु बहिर्मुखी भाव प्रतिमुहूर्त वस्तु में अपनी प्रतिष्ठा के आवेदन से सृष्टिकारी प्रेरणा को जगाता है। इसी सहज सर्जन-प्रेरणा से मनुष्यों में दो प्रकार की सृजन-शक्ति का उदय हुआ है—एक तो ज्ञान, दूसरी कल्पना। ज्ञान और कल्पना मूलतः एक-से हैं। चिन्तन शक्ति का नाम ज्ञान है और कल्पना भी वास्तव में चिन्तन ही है। दोनों की पद्धति अलग-अलग है। ज्ञान जीवन और जगत्, प्रकृति और समाज की आलोचना तथा व्याख्या करता है; किन्तु कल्पना देती है उसे रूप। ज्ञान का कृतित्व है जिज्ञासा और मीमांसा, जब कि कल्पना का रूपदान, परोक्ष को प्रत्यक्ष, अरूप को गोचर और अमूर्त्त को मूर्त्त करना।

साहित्य जो असाध्य साधन करता है, वह इसी कल्पना के जादू

से। रूप-विधान की अपूर्व क्षमता साहित्य को कल्पना से ही सुलभ है। कल्पना की भिन्न-भिन्न संज्ञाएँ हैं। कोई उसे प्रज्ञा कहते हैं, कोई प्रतिभा, तो कोई सामर्थ्य। हम इसे अन्तर्दृष्टि कहेंगे। जो आत्मीयता विषय या वस्तु से मन का तादात्म्य स्थापित करती है, वह आत्मीयता ही कल्पना है। शेक्सपियर की कुछेक पंक्तियाँ देखिये :—

दि पोएट्स आर इन ए फाइन फ्रेंजी रालिंग
डथ ग्लान्स फ्राम हेवन टु अर्थ, फ्राम अर्थ टु हेवन
ऐंड ऐज़ इमेजिनेशन बडीज फोर्थ
दि फार्म्स आव थिंग्स अन्नोन, दि पोएट्स पेन
टर्न्स देम टु शेप्स ऐंड गिव्स टु एयरी नथिंग
ए लोकल हैबिटेशन ऐंड ए नेम।

अर्थात् कवि की दिव्य उन्माद-भरी आँखें जब स्वर्ग से पृथ्वी और पृथ्वी से स्वर्ग तक घूम जाती हैं, तो भावना के अजाने भाव प्रत्यक्ष हो उठते हैं और कवि की कलम की नोंक पर वे रूप ग्रहण करते हैं। जो शून्य और अलौकिक होते हैं, वे ही नाम-धाम लेकर सामने आ जाते हैं।

यह शक्ति उसी अन्तर्दृष्टि की है, जिसे बाइबिल में 'विज़न' कहा गया है। इसकी दिव्य-ज्योति में अज्ञातपूर्व वस्तु प्रत्यक्ष हो जाती है, जगत् और जीवन की अखण्डता पूर्णता में परिणत होती है तथा उसका गोपन सत्य आविष्कृत होता है। यों यह कल्पना किस में नहीं है? हम में, आप में, सब में है। किन्तु जन-साधारण की कल्पना विधायक न होकर ग्राहक होती है। ग्राहक कल्पना केवल

भाव की धारणा कर सकती है, विधायक सृष्टि करती है। कवि जो रचना करता है, उसकी प्रतीति पाठक या श्रोता को इसीलिए होती है कि उसमें भी किसी हद तक कल्पना मौजूद होती है। कवि जहाँ चित्रमत्ता में बाकी छोड़ देता है, वहाँ वे अपनी ओर से उसकी परिपूर्ति कर लिया करते हैं।

कवि और जन-साधारण के चित्त में एक अन्तर है। सर्व-साधारण की चेतना कवि जितनी न तो प्रसारशील होती है, न कवि जितना उसका व्यक्तित्व ही उदार होता है। वह अपनी अनुभूति को सीमित क्षेत्र के बाहर, एक से अनेक में प्रसारित नहीं कर सकता। व्यक्तित्व में भी यही बात है। कवि सर्वसाधारण का प्रतिनिधि होता है। एकाधार से वह अपने देश का कान, आँख और हृदय होता है। उसकी वाणी में युग अपने स्वप्न और विश्वास का प्रतिरूप, अपनी आकांक्षा की प्रतिध्वनि पाता है। युग और जीवन की जो भाव-राशि अन्तर की वन्दीशाला में ही तड़पती रहती है, जो आकुलता और जो स्वप्न माया की जंजीरों में ही घुटते रहते हैं, उन्हें शब्दों के जादू-मन्त्र से मुक्त करने की क्षमता कवि में ही है, जैसा कि कवि ने कहा है :

पोएट्री एलोन कैन टेल हर ड्रीम्स
विथ दि फाइन स्पेल ऑव वर्ड्स एलोन कैन सेव
इमेजिनेशन फ्राम दि सेबल चेन
ऐंड डम्ब एनचांटमेंट।

अन्तर्दृष्टि की यह दुर्लभ शक्ति सहज ही नहीं आती। रहस्य के

अतल अन्तःपुर में प्रवेश करने का अधिकार, मर्मोद्घाटन की सामर्थ्य और आकाश-पातालगामी गति कल्पना को योग से मिलती है। योग अर्थात् चित्त की एकाग्रता, आत्मतल्लीनता। 'काव्यमीमांसा'-कार का कहना है—'काव्यकर्माणि कवेः समाधिः परं व्याप्रियते।' समाधि योग की एक अवस्था है, जिससे चित्त बाह्य से निवृत्त और वेदितव्य में प्रवृत्त होता है। काव्य के लिए भी इस समाधि की आवश्यकता है, तभी अन्तर्दृष्टि क्षिप्र और पारदर्शी हो सकती है, तभी कवि बाह्य जगत् और जीवन को रूपान्तरित करके हमारी आकांक्षा बना सकता है। कई लोग इसीलिए इस शक्ति को ईश्वरीय देन कहते हैं—अभ्यास से, साधना से यह नहीं आती। मम्मट ने इस शक्ति को पूर्वजन्म का एक संस्कार कहा है और इसकी दो श्रेणियाँ मानी हैं—एक सहजा और दूसरी उत्पाद्या। यह सहजा ईश्वरदत्त मानी गयी है और उत्पाद्या अभ्यासानुशीलन से प्राप्त होनेवाली। अस्तु।

कल्पनापर आज यह आक्षेप और भी प्रबल रूप से किया जाता है कि यह सर्वथा मिथ्या और अलीक है। स्वप्न का मोहक जाल बिछाकर सत्य पर पर्दा डालने की यह एक जादू की छड़ी है। वास्तवता के सम्मुखीन न होकर जीवन से भागने की जो एक प्रवृत्ति है, उसीमें स्वप्नों के पंख पर उड़कर आकाश-कुसुम तोड़ लाने का यह एक रंगीन प्रयास है और जीवन की कटुता से संघर्ष न करके उससे मुक्ति पाने की एक भीरुता। लेकिन सच पूछिए, तो कल्पना के प्रति हमारी यह अनास्था महज इसलिए नहीं है कि काव्य और जीवन में वास्तविक विरोध है। काव्य जीवन विरोधी नहीं होता। वह जीवन की

चरम प्राप्ति का स्वरूप है। फिर भी दोनों में जो विरोध दिखायी देता है, वह हमारे संस्कार का परिणाम है। हम रोज-रोज वस्तु-जगत् को देखते हैं, उस देखने में हमारी दृष्टि पर हमारे स्वार्थ और प्रयोजन-बोध की गहरी छाप रहती है। जीव-धर्म से प्रभावित दृष्टि में हम वस्तु को जिस रूप में देखते हैं, उसी को सत्य समझ लेने का एक भ्रामक संस्कार हममें प्रबल हो उठा है। जीवन की समस्याएँ, आए दिन के सुख-दुःख के संघर्ष में हमारा मन उलझा रह जाता है। फलस्वरूप प्रत्यक्ष में भी अन्तर्निहित जो वास्तविक जीवन है, जीवन का जो सच्चा स्वरूप है, उसे हम नहीं देख पाते। हमारा यह संस्कार हमें जीवन के बाहरी द्वार पर ही भटकाता रहता है—काव्य जीवन के उसी आभ्यन्तरीण रूप का हमें दर्शन कराता है। बस, यही और इतना ही अन्तर काव्य के सत्य में और वास्तविक सत्य में होता है। आँखों से जितना कुछ प्रत्यक्ष है, काव्य उतना ही नहीं दिखाता। उससे अधिक उसके अभिनव रूप को सामने लाता है। इतिहास और दर्शन हमें तथ्य और तत्त्व देते हैं। जैसे भूगोल जब प्रशान्त महासागर का कोई विवरण देता है, तो उस तथ्य पर विशेष कोई आपत्ति नहीं होती। इतिहास जब ताजमहल की निर्माण-कहानी सुनाता है, तो हमारी जानकारी की पूँजी में एक और इजाफा हो जाता है। किन्तु ताजमहल के निर्माता शाहजहाँ के प्रेम से उसके महत् और प्रांजल हृदय का सत्य जब कहा जाता है, तो अकों के लेखा-जोखा या तथ्य से ही काम नहीं चलता। यहाँ उस पैनी अन्तर्दृष्टि का ही प्रयोजन होता है; क्योंकि यहाँ वस्तुगत सत्य के बजाय आन्तरिक

सत्य का स्वरूप प्रत्यक्ष करना पड़ता है। यह मीठे को मीठा कहना नहीं है, अच्छे को अच्छा समझा देना है। सत्य की ऐसी प्रतिष्ठा में और भी एक विशिष्टता होती है। वह है, जो सत्य है, उतना ही नहीं, जो सत्य चाहिए अथवा सम्भाव्य सत्य को रूप देना पड़ता है। यथार्थ जगत् में जो-कुछ भी हम देखते हैं, वह सब एक से भिन्न है—उनमें कहीं भी एकरूपता नहीं होती। जो है, सब विशिष्ट है। किन्तु साहित्य की सृष्टि में हर विशिष्ट सामान्य हो जाता है—सब साधारणीकृत होता है। इसलिए काव्य का सत्य यथार्थ का प्रतिरूप नहीं होता। क्या है, केवल यही दिखाना काव्य का काम नहीं; क्या होना चाहिए, सच्चा काव्य यही बताता है। ऐसी दशा में संस्कार का चश्मा पहने हमारी आँखों को कल्पना की सृष्टि में मिथ्या और अलीकता दिखायी पड़ना स्वाभाविक है। किन्तु कल्पना हकीकत में मिथ्याचार नहीं। एक संस्कृत-कवि की उक्ति है :

न कवेर्वर्णनं मिथ्या कविः सृष्टिकरः परः।
सर्वोपर्येव पश्यन्ति कवयो ह्यन्ये न चैव हि॥

अर्थात् कवि श्रेष्ठ स्रष्टा है, उसके वर्णन में मिथ्या नहीं होती। उसकी दृष्टि सब से ऊपर होती है, और कोई वैसा देख नहीं सकता।

रवीन्द्रनाथ ने नारद के मुँह से यही बात और अच्छे ढंग से वाल्मीकि के लिए एक कविता में कहलाई है। क्रौंच की वेदना से अनुतप्त होते ही कवि के कण्ठ से अनुष्टुप का जन्म हुआ। नारद आए और उन्होंने उस दुर्लभ छन्द में उन्हें राम का चरित्र लिखने की प्रेरणा दी और कहा—"कवि, तुम जो रचोगे, वही सत्य होगा। जो

कुछ घटता है, वही मात्र सत्य नहीं। यकीन मानो, तुम्हारा हृदय राम की जन्मभूमि अयोध्या से बढ़कर सत्य है।"

मगर फिर भी आप कहेंगे कि यह तो कल्पनाजीवी की ही बात है, जिनकी दुनिया ही बातों की है। मगर हम आपके आगे दो ऐसे कथनों को उपस्थित करते हैं, जो कविता को शून्य में पनपनेवाली अमरलता नहीं मानते। जो धरती और जीवन के खून-पसीने से जीवनी-शक्ति संग्रह कर वास्तव के वातावरण में पनपनेवाली लता को ही कविता कहते हैं। ऐसे मार्क्सवादी और जड़वादी आलोचकों को भी अन्ततः इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा है कि जीवन के वास्तविक स्वरूप को प्रत्यक्ष करने के लिए आकाशगामी कल्पना अथवा स्वप्न के पर के बिना अन्य उपाय नहीं। क्रिस्टोफर काडवेल ने इस माया और वास्तव पर काफी छान-बीन की है। अपनी पुस्तक 'इल्यूज़न एँड रियलिटी' में एक स्थान पर उन्हें कहना पड़ा है—"बट ओनली बाइ मीन्स ऑव दिस इल्यूज़न कैन बी ब्राट इनटु बींग ए रियलिटी ह्विच वुड नॉट अदरवाइज़ एक्ज़िस्ट।" यानी केवल इस स्वप्न-रचना द्वारा ही ऐसी एक यथार्थ दृष्टि सम्भव है, जो कि अन्य उपायों द्वारा हर्गिज नहीं हो सकती।

'मार्क्सिज्म ऐंड पोएट्री' नाम की पुस्तक में यह स्वीकृति और भी विशिष्ट रूप में व्याख्या-सहित देखने में आती है। अन्त में आलोचक कहते हैं—"शिल्पी को सदा असम्भव को पाने की धुन रहती है। वह मानो गेटे के 'युफेरियन' हों कि तब तक उड़ते ही रहते हैं, जब तक कि प्रज्वलित शिखा में जलकर लुप्त नहीं हो जाते! लेकिन उनकी

इस प्रेरणा को धन्यवाद है कि जिसकी बदौलत बेसिर-पैर की कल्पना कठोर वास्तव में बदल जाती है। स्रष्टा अपने समानधर्मियों को कल्पनालोक में ले जाते हैं, जहाँ उन्हें मुक्ति मिलती है और बंधन को स्वीकार करने में उनकी मानुषी बुद्धि इन्कार करती है। इस प्रकार एक निगूढ़ शक्ति संचित होती है, जो बाद में यथार्थ जगत् में प्रवाहित होकर कल्पना को यथार्थ में परिणत कर देती है।"

काव्य के लिये सम्भाव्य सत्य ही अपेक्षित हुआ करता है। अंतर की आँखों से कवि उस सत्य की खोज करता है, जो होना चाहिए या हो सकता है। और इस तरह तथ्यों की भीड़ में से कवि सत्यतम सत्य का ही आविष्कार करता है। यही सृष्टि का लक्ष्य भी है कि जो अनधिगम्य है, उसे अधिगम्य किया जाय; जो अलक्ष्य है, उसे दृश्य किया जाय। हमारा यह जीवन चंचल है, दोष और त्रुटि से भरा हुआ है। उस चंचलता के क्षणिक सौन्दर्य को नित्यत्व देना, इस विषमता की कुरूपता को रूप और अमृत देना साहित्य का काम है। इसलिये कवि को अपने स्वप्न, अपनी कल्पना द्वारा वास्तव को आदर्श वास्तव का रूप देना पड़ता है और तब कहीं स्वप्न के उस वास्तव का पूर्ण और विशुद्ध रूप प्रत्यक्ष होता है।

सत्य की यह अन्तर्दृष्टि या कल्पना
द्वारा सम्पन्न करती है—रूप-विधान या नि
योजना आदि के सहारे एक से दूसरी क
तथा नवीनता की उड़ान से। इस क्रिया
रूप हो जाते हैं—उत्पादक, संयोजक और

साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' में कल्पना के दो भेद किये गये हैं—गीतात्मक और नाटकीय (इगोइस्टिक इमेजिनेशन और ड्रैमेटिक इमेजिनेशन)। इनकी दृष्टि भी दो कही गयी है—सापेक्ष दृष्टि और निरपेक्ष दृष्टि (रिलेटिव विज़न और एब्सोल्यूट विज़न)। सापेक्ष दृष्टि में द्रष्टा के निजत्व की छाप होती है और निरपेक्ष में दृष्टि अबाध होती है—स्वच्छन्द। श्री अरविन्द ने इसी को विषयिनिष्ठ और विषयनिष्ठ कल्पना कहा है। हम इसे आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ भी कह सकते हैं। बहुत-से विवेचकों की राय में वस्तुनिष्ठता ही अपेक्षित है, इसलिए कि उसमें व्यक्ति की वह संकीर्णता नहीं होती, जो आत्मनिष्ठ दृष्टि का एक दोष है। हमारी अपनी मान्यता है कि आत्मनिष्ठ कल्पना में सब समय व्यक्ति की छोटी परिधि ही नहीं होती, व्यक्तित्व की महिमा भी होती है। यहाँ व्यक्ति से एक मनुष्य-विशेष का ही बोध नहीं होता, एक विशिष्ट अभिव्यक्ति, एक प्रकाश-विशेष समझना चाहिए; क्योंकि कवि में केवल अपने आत्म-प्रकाश की आकुलता नहीं होती, वह मानवता का प्रतिनिधि होता है और इसलिए अपनी कामना-भावना के माध्यम से वह बहुतों की कामना-भावना को वाणी देता है। हाँ, यह हम जरूर कहेंगे कि बात चाहे बहुतों की कही जाती हो; पर कवि का चित्त उसका अपना यानी एक का ही होता है। अगर ऐसा न हो, तो उसकी सृष्टि में एकता और अखण्डता नहीं हो सकती। जिसे हम व्यक्तित्व कहते हैं, उससे दो अभिप्राय सिद्ध होते हैं, या यों कहें उसके दो अलग-अलग अर्थ हैं। एक व्यक्तित्व तो वह, जिसके द्वारा हम बहुतों में से किसी को उसकी विशिष्टता द्वारा अलग कर सकते हैं,



और दूसरा वह, जो उसके विशिष्ट प्रकाश की महिमा हो। इसमें उसकी सत्ता बहुतों का प्रतिनिधित्व करती है। काव्य-पाठ के समय हम कवि-वर्णित विषय में रचनाकार की तरह ही आत्म-विभोर हो जाते हैं। उस समय हममें जिज्ञासा, विश्लेषण या सन्देह का उदय नहीं होता। कवि का प्रकाश विशिष्ट होकर भी सामान्य, उसकी अनुभूति आत्मनिष्ठ होकर भी सामूहिक और सब की लगती है। यह व्यक्तित्व है, जिसे अंगरेज़ी में 'पर्सनेलिटी' कहते हैं—यह 'इनडिविजुएलिटी' नहीं है। जो कवि अपनी अनुभूति के साथ ईमानदार है, वह विषय और आत्मा के बीच मंगल मिलन-सेतु तैयार कर सकता है, अपनी उस अलौकिक दिव्य दृष्टि के द्वारा जगत् और चित्त के अहं के बीच की दीवार को तोड़ देता है और इस तरह उसकी आत्मानुभूति अपनी होकर भी सर्वमानवीय होती है, जिससे हम सत्य के वास्तव रूप की एक अनोखी अनुभूति से प्रतीति करते हैं। यह दृष्टि आत्मनिष्ठ अथच आत्मनिरपेक्ष होती है और इसलिए काव्य को हमने ज्ञानयोग कहा है।